

मुद्रक

कुमार फाइन आर्ट प्रेस

२१४३, चाहरहट, दिल्ली-६

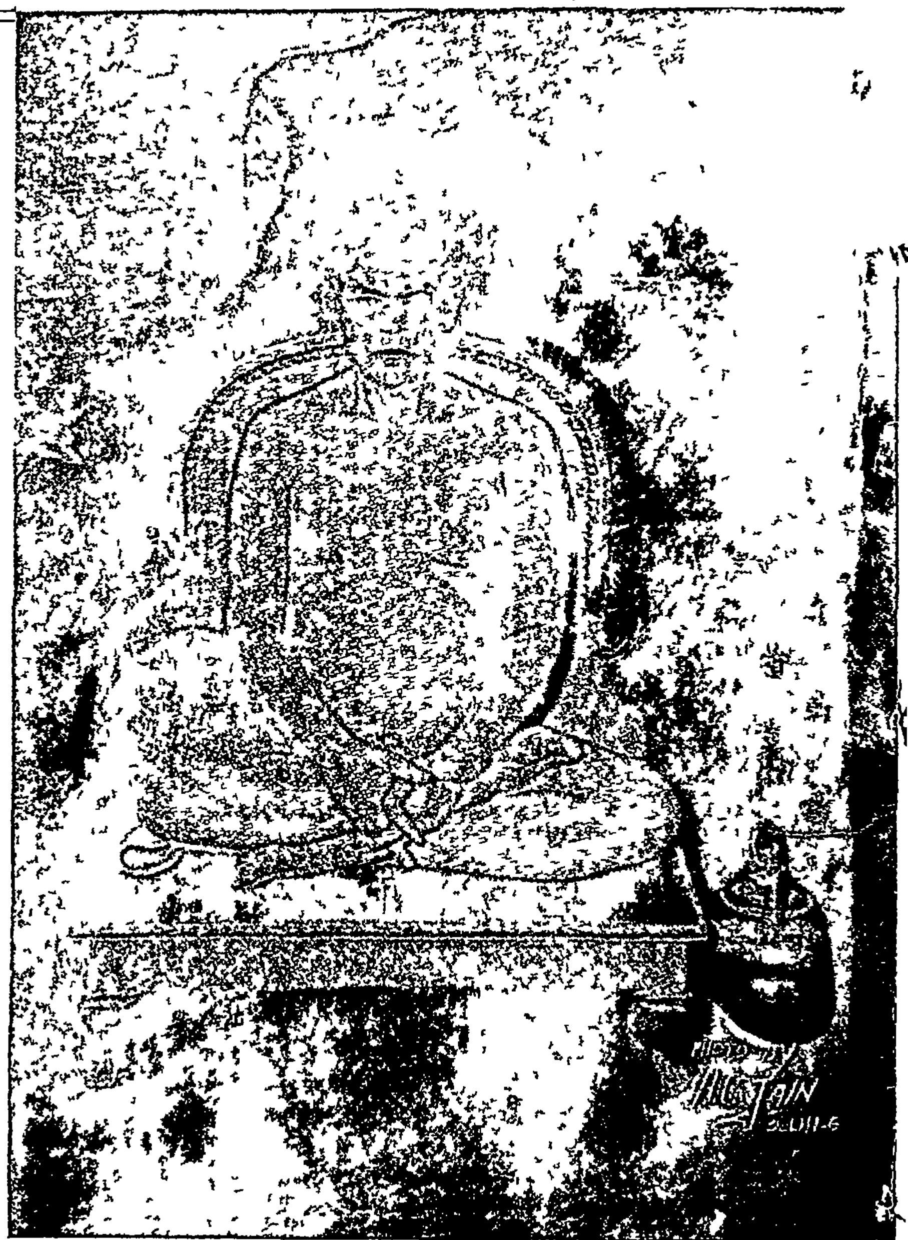


शास्त्रदानसे बड़ा पुण्यका सञ्चय होता है।

श्रावक साधु इससे ज्ञानवृद्धि करे आत्मकल्याण करें और धर्मवृद्धि करें तो इसका प्रकाशन सफल होगा।

सब लोगोंको आशीर्वाद।





श्री १०८ आचार्य रत्न देशभूषण जी महाराज

ज_मवत १६६० मुनिदीक्षा सवत् १६८

इच्छा त्यागकी तरफ ज्यादा रहनेलगी, कुछ दिन बाद आचार्य पायसागरजीके शिष्य मुनिराज जयकीर्तिजी महाराज स्तवनिधि पधारे, जिनके प्रवचनसे विरागवृत्ति बलवती होगई और आपने महाराज श्री के चरणोमे दीक्षाकी प्रार्थनाकी ससारकी असारतासे आपका मन व्याकुल होउठा, महाराज श्री जयकीर्तिजीसे सप्तम प्रतिमाके व्रत गहण किये। महाराज जयकीर्ति जीने कुछ समय पश्चात् रामटेक जिला नागपुरमे ऐलकदीक्षा-दी और बालगौडासे देशभूषण नाम रखा गया।

अपरिग्रह से प्रभावित हो निर्ग्रन्थदिगम्बर मुनिपदकी दीक्षा देनेकी प्रार्थना आपने गुरुवर्यसे की पूज्य महाराजजीने सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरिजी पर मुनिदीक्षा प्रदानकी। मुनिदेशभूषणजी सघ सहित सूरत पधारे, समाजकी प्रार्थना पर वही पर चतुर्मास किया। महाराजकी विद्वत्ता, व्यवहारकुशलता सघके अनुशासन आदिको देखकर समस्त समाजने निर्णय किया कि मुनिदेशभूषणजीको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाय जिससे समाजको सबल नेतृत्व मिल सके। समाजने चतुर्विध सघका नेतृत्व और आचार्यपद ग्रहण करनेकी प्रार्थनाकी, किन्तु आपने कहा कि पूज्यपाद आचार्य पायसागरजी महाराज विराजमान है वगैर उनकी आज्ञासे यह कैसे सभव है, महाराज पायसागरजीने यह सुनतेही सूरतवालोसे कहाकिदेशभूषण इस पदके सर्वथा उपयुक्त हैं आपको सूरतमे भव्य आयोजनके मध्य आचार्यपद से विभूषित किया गया। इसके पश्चात्

७० वर्षकी आयुमे भी आप हमेशा ध्यान,तप और साहित्य सृजनके कार्यमे लीन रहते है। इस समय आप दि० जैनसमाज की प्रार्थना पर देहलीमे ससघ विराजमान है और भगवान महावीरस्वामीके २५००वें निर्वाण महोत्सवकी सफलताके लिये पूर्ण प्रयत्नशील हैं, उसी शृ खलामे श्री "भगवान महावीर और उनकी वाणी" नामक एक वृहत् ग्रन्थकी रचना तथा सम्पादन के कार्यमे सलग्न है।

आपके सरल स्वभावसे मानवके चित्तको बडी शाति मिलती है आप शतशतायु हो, यही मेरी कामना है।

दिल्ली
२६ जनवरी १९७३]

[विनीत
प्रेमचन्द्र जैन

तत्त्वभावना

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयो ये पंचधावस्थिता ।
जीवा संचरता मया दशदिशश्चित्तप्रमादात्मना ॥
ते ध्वस्ता यदि लोटिता विघटिता संघट्टिता मोटिता ।
मार्गालोचनमोचिना जिन ! तदा मिथ्यास्तु मे दुष्कृतम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (चित्तप्रमादात्मना) प्रमाद या आलस्य या असावधानता या कषाय सहित चित्तको करके (मार्गालोचनमोचिना) मार्ग या पथको देखना छोड़कर (दशदिश संचरता) पूर्वादि दश दिशाओंमे चलते हुए (मया) मेरेसे (एक द्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतय) एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेंद्रिय, आदिक अर्थात चौन्द्रिय व पचेंद्रिय (ये) जो (पंचधा) पांच प्रकारसे (जीवा) संसारी जीव (अवस्थिता) शास्त्रमे स्थापित किये गए है (ते) वे जीव (यदि) यदि (ध्वस्ता) नाश किये गए हों (लोटिता) उलट पुलट किये गए हों (विघटिता) अलग अलग कर दिये गए हों (संघटिता) मिला दिये गए हों (मोटिता) पैरोंसे रौंदे गए हो (तदा) तो (मे) मेरा (दुष्कृतम्) यह पाप (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो ।

भावार्थ—सामायिक करते समय पिछले किये गए पापोंको याद करके प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप इसीलिये किया जाता है कि जिससे आगेके लिये उस पापसे बचा जावे । अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि चार हाथ जमीन आगे देखकर चला जावे । मुनिगण महाव्रती होते हैं वे दिनके प्रकाशमे प्राशुक रोंदी हुई जमीनपर ही चलते हैं और बडी भारी सावधानी रखते हैं कि मेरे द्वारा कोई छोटाबडा वृक्ष भी रौंदा न जावे, कोई छोटा

मार्गपर सवारीको ले जाते हैं। पैदल चलते हुए अपनी आंखोंसे देखकर चलते हैं। तौभी आरभी श्रावकसे बुहारी देते हुए, घरके काम करते हुए, माल उठाते धरते हुए, मकानादि बनवाते हुए बहुत अधिक जीवहिंसा होजाती है। यहा इस श्लोकमे मात्र चलते समय जो हिंसा होती है उसीकी मुख्यता है। हिंसासे लगे हुए पाप–रसको घटानेका विचार ऐसे श्रावक भी करते हैं जिनसे आगेके लिये उनके व्यवहारमे अधिक सावधानी होजावे। जो मानव किसी कर्मको छोड नही सकता है परतु निरतर विचारता है कि यह कर्म छोड देने योग्य है वह कभी न कभी छोड भी देगा व उसे कम करता जायगा,इसलिये हिंसा त्यागकी भावना हरएक मुनि व श्रावकको करना उचित है। यह पाठ सर्व ही प्रकारके धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका द्वारा मनन करने योग्य है। हिंसा हुई हो उसका पश्चात्ताप अहिंसा पालनमे सावधान करनेवाला होता हे ।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता ।

हे श्री जिनेन्द्र ! प्रमाद चित्त हो मार्गको देखे विना ।
दश दिश भ्रमण करते विराधे पच विध जतू घना ।
जो एक द्वै त्रय आदि इन्द्रिय दलमले छिनमिन किये ।
उलटे तथा पलटे मिलाए, पाप मिथ्या होय ये ॥१॥

उत्थाकिा—हमारा समय शुभ कार्योंमे वीते ऐसी भावना करते हैं—

तब हमारे लिए निश्चय से एक आत्मतत्त्व ही देव, गुरु या शास्त्र होजाएगा। इस प्रकार साधकको व्यवहार धर्मकी भावना निश्चयधर्मके लाभके लिए करते रहना चाहिये।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द ।

हे देव ! श्री जिन भक्ति करते जैन वच अभ्यासते।
निन्दा न करते अन्यजन की साधु गुण सुप्रकाशते ॥
चारित्र चितमे चाहते क्रोधादि शत्रु निवारते।
बीतें दिवस मेरे सभी अध्यात्म अनुभव धारते ॥२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरे चरित्रमे जो दोष लगे हो वे व्यर्थ होवें—

आलस्याकुलितेन मूढमनसा सन्मार्गनिर्णाशिना।
लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना ॥
यद्देवाचरित विरुद्धमधिया चारित्रशुद्धेर्मया।
मिथ्या दुष्कृतमस्तु भो जिनपते ! तत्त्वत्प्रसादेन मे ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् (आलस्याकुलितेन) आलस्य से भरकर व (मूढमनसा) मनमे विवेकको छोडकर मूर्खता धार के (सन्मार्गनिर्णाशिना) मोक्षमार्गकी विराधना करते हुए (लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना) व अपने आत्माको क्रोध, लोभ, मान, असावधानी, कामभाव, द्वेष आदिसे लिप्त करके (मया) मुझ (अधिया) निर्बुद्धिके द्वारा (यत्) जो कुछ (चारित्रशुद्धे ,चारित्रकी शुद्धतासे विरुद्धम् विपरीत,आचरित) आचरण किया गया हो(भो जिनपते !) हे जिनेन्द्र भगवान ! (त्वत्प्रसादेन) आपके प्रसादसे (तत्) वह(मे) मेरा (दुष्कृतम् दुष्कृत या पाप या दोष(मिथ्या)नाश (अस्तु) हो।

(धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनस) धर्मध्यान और समताभावमे शुद्ध मनको लगाते हुए (मे) मेरा (काला) समय (प्रयातु) बीते ।

भावार्थ—इसमे आचार्यने जैन सिद्धातके मूलस्त्रोतभूत सात तत्वोका सकेत करते हुए उनपर श्रद्धानको दृढ किया है। तथा उनमे कौन ग्रहण योग्य है व कौन त्यागने योग्य है इन भेद विज्ञान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारनय दोनोंमे बताया है। असल बात यह है कि जिसको सुखशाति पानेकी चाह हो व अपने आत्माको पवित्र करनेकी रुचि हो उनको सात तत्वोको भलेप्रकार समझकर उनपर अपना विश्वास लाना चाहिये। जीव और अजीव तत्वमें तो यह समझाया है कि यह लोक जीव और अजीव पदार्थोका समुदाय है। विना इन दो पदार्थोको माने हुए ससार और मोक्ष बन ही नही सकता है। यदि एक मात्र जीव ही पदार्थ होता तो सब जीव शुद्ध अपने स्वभाव हीमें पाए जाते। न कोई अशुद्ध होता न कोई दु खी होता न शुद्ध होने के लिये व सुखी होने के लिये कोई धर्म का साधन करता। क्योंकि जीवका स्वरूप ज्ञानदर्शन सुख शातिमय ह। यह स्वभावसे सबको जानने देखनेकी शक्ति रखता है, क्रोधादि इसका स्वभाव नही है किन्तु शाति इसका स्वभाव है,आनद भी इसका स्वभाव है। सब ही जीव परमात्म स्वरूप ही उस लोकमें होते यदि एक जीव पदार्थ ही होता और यदि एक अजीव पदार्थ ही होता तो सब कुछ जड अचेतन होता फिर कोई जाननेवाला व सुख दु खको वेदनेवाला नही होता फिर कहना सुनना समझना समझाना कुछ भी नही होता सो दोनोका एकात नहीहे। जगतमें जीवभी

करानेमे उसकी कोई आवश्यक्ता ही है । शीत सामने अग्नि आनेसे पिघलेगा ही, बर्फके सामने गर्मी आनेसे पानी होता ही। ईश्वरका इन कामोंमे हाथ है ऐसा कहना व्यर्थ है । ईश्वर निर्विकार, इच्छारहित, परमानन्द मई है, वह किसी वस्तुके बनाने व बिगाड़नेमें दखल नहीं देता है।

जीव और पुद्गल चार काम करते ही रहते हैं, जैसे—चलना, ठहरना, जगह पाना और अवस्थायोंका बदलना। क्योंकि हरएक कामके लिए खास निमित्त कारणकी जरूरत है। इसलिए इन चारों कामोंके लिये जैन सिद्धान्तमें चार द्रव्य माने हैं। जो जीव और पुद्गलोंके चलनेमें उदासीन कारण है वह लोक-व्यापी धर्मद्रव्य है। जो जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहकारी है वह लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जो सब द्रव्योंको अवकाश देता है वह अनन्तव्यापी आकाशद्रव्य है। जो सब द्रव्योंकी अवस्था बदलने में मदद देता है वह कालाणु नामका कालद्रव्य है, जो रत्नोंके समान अलग२ लोकके असंख्यात प्रदेशोंमे तिष्ठा है।

जीव और कर्म पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धके कारणसे आस्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये पांच तत्त्व व्यवहार किये जाते हैं।

संसारी जीवोंके मन, वचन, कायके कामोंके होते हुए आत्मा के प्रदेश कॉपते हैं इस कारणसे चारों तरफके कर्म पुद्गल जीव के अच्छे या बुरे भावोंके अनुसार पुण्य या पाप रूपमें आते हैं। इसहीको आस्रव तत्व कहते हैं। ये आए हुए ही कर्मपुद्गल जीवके साथ जो कार्माण शरीर है उसीमे बंध जाते हैं। यह बंधन किसी नियमित समयके लिए होता है। उस समयके

है—जीव और अजीव । इन दोनोमेसे जीवको ही ग्रहण करके उसके ही शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये इसीलिए आचार्य ने कहा है कि जीव अजीवसे भिन्न है ऐसा जानो, आस्रव बंधके कारणोको रोको, सदा संवर और निर्जराका उपाय करो, स्वाधीनता रूप मोक्ष पानेकी उत्कंठा रक्खो तथा निश्चयनयसे एक अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्वको भेद विज्ञानके बलसे रागद्वेषादि भावोसे भिन्न वीतराग विज्ञानमय विचारो और अनुभव करो। यही मार्ग सुख शांति पानेका तथा कर्मोके बंधसे छूटनेका है। जबतक हम इस देहमे हैं हमे अपना समय इसी तरह पर बिताकर सफल करना चाहिए। यही मानव-जीवनका लाभ है। श्री पद्मनंदि मुनिने आलोचनाके पाठमे मुक्तिपदकी ही भावना की है जैसे—

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः ।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयानंतशः ॥
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तप्रदाम् ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव ! पूर्णां कुरु ॥

भावार्थ—हे देव ! मैंने इस संसारमे चिरकालसे भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना तथा इनके मध्यकी बहुत प्रकार योनियोको अनंतवार पाया। इसलिये सिवाय मोक्षके देनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रयकी पदवीके और कोई वस्तु मेरे लिये अपूर्व नही है अर्थात् मैं सिवाय अभेद रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके और किसी वस्तुको नही चाहता हूँ, क्योंकि इसीसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण आप इसीकी पूर्ति कीजिये।

भावार्थ—यहा यह दिखलाया है कि जिनको ससार-समुद्र तिरनेमे बहुत थोडी देर है अर्थात् जो दीर्घकाल तक ससारमेफसे न रहेंगे और शीघ्र ही मुक्तिको पायेंगे उन महात्माओको ही वे सब कारण व साधन सहजमे मिल जाते है, जो कर्मोंको काटने वाले है। वास्तवमे मुक्तिका साक्षात् साधन निर्ग्रंथ पद है। अर्थात् सर्व परिग्रह रहित साधुपद है। जिसका बाहरी भेप नग्न दिगम्बर है, मात्र पीछी व कमडल और होता है, जिससे जीवदया पाली जावे और शौचका काम लिया जावे। ये साधु शरीरसे ममताके त्यागी होते है, इसी लिये अपने केशोको हाथसे घासके समान उखाडकर फेंक देते हे। तथा ये अहिंसाव्रतके पूर्ण पालक होते हैं इसीलिये चार हाथ प्राशुक भूमि आगे देखकर दिनमे चलते हैं। रात्रिको एक स्थानमे ठहरते है। जिनके वचन वडे मिष्ट, अल्प व शास्त्रोक्त होते है। जो शुद्ध भोजन समताभावसे गृहस्थोको विना किसी प्रकारका कष्ट दिये हुए जो उन्होने अपने, कुटुम्बक हेतु बनाया है उसीका कुछ भाग भक्तिपूर्वक दिये जानेपर लेते है। जो निर्जंतु स्थानोमे मल मूत्र करते है व जो किसी वस्तुको देख शोधकर उठाते धरते है। ऐसे पाच समितिके पालक है, जो विना दिये हुए अपनेसे कभी कोई वस्तु यहातक कि पानी व फलफूल भी नही लेते। जो सत्य वचनोके सिवाय कभी भी हिंसाकारी असत्य नही कहते। जो परम शुद्ध ब्रह्मचर्यकीदृष्टिसे देखते हुए कामभावको अपने मनमे जगह नही देते। जो किसी क्षेत्र व रुपये पैसेपर व किसी अन्य चेतन अचेतन पदार्थपर ममत्वभाव नही रखते। ऐसे पाच अहिंसादि महाव्रतोके पलक हैं।

वे ही साधु निजानन्द भोगते हुए अनंत सुखके अधिकारी होजाते हैं ।

श्री पद्मनंद मुनि यतिभावनाष्टकमें मुनिका स्वरूप कहते हैं—

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनम् ।
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलीम् ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता ।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिता. ॥१॥

भावार्थ—जो साधु महाव्रतोंको लेकर, निर्मलआत्मा के तत्त्वको समझकर तथा वनमें जाके सर्व ही मोह कर्मके वशसे पैदा होनेवाले अनेक विकारोंको छोड़ करके मन, श्वासोच्छ्वास और आत्मा तीनोंकी निश्चलतामें एकतान होते हुए आनंदको भोगते हुए पर्वतके समान कंप रहित रहते हैं वे सर्व परिग्रहके त्यागी निर्ग्रन्थ साधुविजय प्राप्त करते हैं अर्थात् कर्मोंको जीतकर परमात्मा, परमेश्वर व परम ब्रह्म होजाते हैं—

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

कुकषाय अरिको चूरना अर सब परिग्रह त्यागना ।
चारित्रमें उद्यम घना संसार क्लेश निवारना ॥
आचार्य पदका सेवना जिनवाणिमें रुचि धारना ।
इन्द्रिय विजय अर त्याग हीं डिग मोक्षका जब आवना ५

उत्थानिका—आगेभावना भाते हैं कि सुख दुःख आदिमें मेरा भाव समता भावको भजे क्योंकि यही समता निर्जराका कारण है ।

मंदाक्रान्ता ।

(वाक्यम्) वचनको (स्वान्ते) अपने मनमे (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसा) दिन (यॉतु) वीतें।

भावार्थ—इन दो श्लोकोमे आचार्यने सामायिकके स्वरूपको दिखला दिया है। वास्तवमे समताभावको ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असलमे तब ही जगता है जव निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे और व्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखनेसे हरएक पदार्थका मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभावमे देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिसके पदार्थ की भिन्न २ अवस्थाओ को व पार्थके भेदोको व असली हालतपर पहुचने के साधनोको व उसके अशुद्ध स्वरूपको देखा जा सके। जैन सिद्धॉतने यह आवश्यक वताया है कि दोनो नयोसे पदार्थोंको देखना चाहिये जैसा कहा है—

व्यवहारनिश्चयो य प्रबुद्धय तत्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया सएव फलमविकल शिष्य ॥
(पुरुषार्थ०)।

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोको समझकर मध्यस्थ या वतरागी होजाता है या किसी एक नयके पक्षपातसे रहित होजाता है वही जिनवाणीको समझनेके पूर्ण फलको प्राप्त करना है।

यह जगत व्यवहारनय (PRACTICAL POInT OF VIEW) से देखते हुए अनत भेदरूप विचित्र दिखलाई पडता है। यह राजा है यह रक है, यह स्वामी यह सेवक, है, यह धनवान है

का स्वरूप दिखलाया है । यह सच्ची तत्त्व भावनाका एक प्रकार है ।

वास्तव मे समताभाव लानेके लिए ऐसी ही भावना कार्य-कारी है । श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पचाशनमे कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्ध ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम् ।
जनयति हेम्नो हैम लोहाल्लोह नर कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्माको शुद्ध स्वरूपमय ध्याता है वह शुद्ध आत्माको पाता है तथा जो अशुद्धरूप अपनेको ध्याता है वह अशुद्ध ही आत्माको पाता है जैसे कोई मनुष्य सोनेसे सोनेका कडा व लोहेसे लोहेका कडा बना लेता है ।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता ।

द्वेषकारी शांतिधारी बधुमे अरु शत्रु मे ।
मूर्खजन वा पडितोमे शुभ नगर वा बनोमे ॥
सम्पत्तिमे वा विपतिमे, वा जन्ममे वा मरणमे ।
हे देव! मेरा काल बीते भाव समता धरणमे ॥६॥
सुखमे वा दुखमे वा क्लेशकर अरि मित्र मे ।
घरमे अरणमे कनक ढेरी और लोष्ट पाषाणमे ॥
प्रिय वस्तु वा अप्रिय रहो समदिवस हो समबुद्धिमे ।
हे जिनपते! तव निर्मल वच सदा धारु हृदयमे ॥७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य करनेवाला ऊची गतिको व नीच कार्यकरनेवाला नीची गतिको जाता है—

(शार्दूलविक्रीडित छद)

ये कार्यं रचयति निद्यमधमास्ते याति निद्या गतिम् ।
ये वद्य रचयति वन्द्यमतयस्ते याति वद्या पुन ॥

ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृह विदधत कूप खनतस्त्वध
कुर्वन्तीति विवुध्य पापविमुखा धर्मं सदा कोविदा ८

अन्वयार्थ—(ये) जो (अधमा) नीच लोग (निंद्यम्) निन्दाके लायक खराव (कार्यं) काम (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (निंद्या) निंदनीय या बुरी (गतिम्) गतिको (याति) पहुचते हैं (पुन) परन्तु (ये) जो (वद्यमतय) प्रशसनीय बुद्धिधारी (वद्य) प्रशसा के लायक उत्तम कार्यको (रचयन्ति) करते हैं ते। वे (वद्या) माननीय या उत्तम गतिको (याति) जाते हैं जैसे (सुधागृह) राजमहलको (विदधत) वनानेवाले (ऊर्ध्वं) ऊपरको (तु) परन्तु (कूप। कुएको (खनत) खोदनेवाले (अध नीचेको (याति) जाते हैं (इति) ऐसा (विवुध्य) भले प्रकार जानकर (पापविमुखा) पापोसे मुह मोडनेवाले (कोविदा) बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्मं) धर्मको (कुर्वन्ति) साधते रहते है।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने दिखलाया है कि हरएक जीव अपने भले या बुरेका जिम्मेदार है। जो जैसा कार्य करता है वह वैसा होजाता है। इस ससारी जीवके पास मन वचन काय ये तीन पाप तथा पुण्यकर्मके आनेके द्वार हैं। जब ये शुभ कार्योमें वर्तते तव मुख्यतासे पुण्यकर्म आते हैं और जब ये अशुभ कार्योमे वर्तते हैं तव पापकर्म आते हैं। यह जीव हरसमय अपने शुभ या अशुभ भावोके अनुसार पुण्य तथा पापकर्मोको वाधता रहता है। साधारण रूपसे आयुकर्मको छोड़कर ज्ञानावरणादि सात कर्मोको नित्य बाधता रहता है। आयुकर्मको विशेष कालमे अपनी भोगनेवाली आयुके आठ त्रिभागोमेसे किसीमे या मरणके पहले वाधता है। आयुकर्मके अनुसार ही यह जीव चार गतियोमेसे किसी गतिमे जाता है। एक मानवकी

अपेक्षा देवगति ही ऊची है नरकगति व पशुगति नीची है व मानवगति वरावरकी है। यदि उच्च भाव होंगे तो ऊची आयुको नीच भाव होंगे तो नीच आयुको, मध्यम भाव होंगे तो मध्यम आयुको वाधकर तदनुसार गतिमे जाता है। जो रौद्रध्यानी हिंसक, दुष्कर्मी है वह नर्कायु बाध नर्कको, जो आर्तध्यानी दु खित भावधारी है वह तिर्यंच आयु वाधकर पशु गतिको, जो धर्मध्यानी है वह देव आयु वाधकर देव गतिको, जो कोमल परिणामी है वह मनुष्य आयु वाधकर मनुष्य गतिको जाता है। परन्तु जो शुक्लध्यानको आराधता है और गुणस्थानोमे चढता हुआ अर्हंत केवली होजाता है वह कोई भी आयु न वाधकर सव कर्मोसे छूटकर शुद्ध परमात्मा होजाता है। इस लोकमे भी देखा जाता है कि जो लोग परोपकार, दान, पूजा, गुरु सेवा, आदि शुभ काम किया करते हैं उनकी प्रतिष्ठा व मान्यता होती है तथा जो परका अपकार, परकी बुराई, अन्यायके विषयोमे प्रवृत्ति हिंसककर्म, चोरी, आदि वुरे काम करते हैं वे निन्दायोग्य व वुरे समझे जाते हैं।

(यहाँ दृष्टात दिया है कि जो लोग राजमहल वनाते हैं वे दिनपरदिन ऊपरको चढते जाते हैं परन्तु जो कुआ खोदते हैं वे दिनपरदिन नीचे धसते जाते हैं।)

इसलिये वुद्धिमानोको चाहिए कि सदा धर्मके सेवनमे लगे रहें। जो सम्यक्दर्शनपूर्वक धर्मका सेवन करेंगे वे इसलोक तथा परलोक दोनोमे सुख पाएगे।

वास्तवमे जैनधर्म वीतराग विज्ञानमय है। इसकी हरएक धर्मक्रियामें आत्माके गुणोका ध्यान आता है। आत्मा सुखशाति मय है, इसमे धर्मसेवन करते हुए सुखशाति तो तुर्त प्राप्त होती

है तथा अन्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे आत्मबल बढता है। तथा पापकर्मोका रस कम होनेसे व पुण्यकर्मोका रस बढनेसे सासारिक क्लेश घटते हैं और सासारिक सुख बढते हैं, तथा तीव्र आपति पड़नेपर धैर्यकी प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीरमें रहते हुए ही प्राप्त होते हैं, इसलिए जो धर्मका सेवन करते हैं वे परलोकके लिए उत्तम आयु बाधकर शुभ गतिमें जाते हैं, ऐसा समझकर हम सबको इस पवित्र जैन धर्मको शरणमें सदा रहकर व इस निरतर आराधनकर इसलोक तथा परलोकको प्रशसनीय बनाना चाहिये—

श्री शुभचन्द्राचार्य श्री ज्ञानावर्णवमें लिखते हैं—

(मालिनी छन्द)

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट—
स्त्रिदशपतिमहर्द्धि प्राप्तुमेकान्ततो वा ।।
यदि चरमपुमर्थ प्रार्थनीयस्तदानी ।
किमपरमभिधेय नाम धर्म विधत्त ।।२३।।

भावार्थ—यदि तुझे नरकमे जानेसे रुकना अति प्यारा है, व यदि तू इन्द्रकी महा विभूतिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा यदि तू चारो पुरुषार्थोमेसे अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थको करना चाहता है तो तुझसे और अधिक क्या कहें तू एकमात्र धर्म ही का साधन कर।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

जो निद्यजन दुष्कर्म करते निन्द्य गतिमे जात है।
जो सन्तजन शुभ कर्म करते उच्च गतिको पात हैं ।।

अरु राज्य गृह रच उच्च जाते कूप खनते नीच हो।
हम जान बुधजन धर्म सेवें पापसे भयभीत हो ॥८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो लोग शरीरके सुखके लिये कुचेष्टा करते हैं वे अब शक्तिको नष्ट करते हैं—

चेष्टाश्चित्तशरीरबाधनकरी कुर्वंति चित्तेऽधमा।
सौख्यं यस्य चिकीर्षवोऽक्षवशगा लोकद्वयध्वंसिनी॥
कायो यत्र विशीर्यते, स शतधा मेघो यथा शारद—
स्तत्रामी वत! कुर्वते किमधियः पापोद्यमं सर्वदा॥९॥

अन्वयार्थ–(अक्षवशगा) इन्द्रियोंके वशमें पड़े हुए (अधमा) नीच पुरुष (यस्य) जिस शरीरके (सौख्यं) सुखको (चिकीर्षव) चाहते हुए (चित्तशरीरबाधनकरी) मन और शरीरको बाधा देनेवाली तथा (लोकद्वयविध्वंसिनी) इस लोक व परलोक दोनों को बिगाड़नेवाली (चेष्टा) क्रियाएं (चित्ते) अपने मनमें (कुर्वंति) करते रहते हैं व (यत्र) जिस संसारमें (स काय) वही शरीर (यथा) जैसे (शारद) शरद ऋतुका (मेघ) मेघ विघट जाता है तैसे (शतधा) सैकड़ों तरहसे (विशीर्यते) नष्ट हो जाता है (तत्र) तिस संसारमें (अमी) ये (अधिय) मूर्ख लोग (किं) क्यों (सर्वदा) सदा (पापोद्यम) पापका उद्यम (कुर्वते) करते रहते हैं (वत!) यह बड़े खेदकी बात है।

भावार्थ–इस श्लोकमें आचार्यने बताया है कि जो पुरुष मिथ्या दृष्टी बहिरात्मा हैं अर्थात् जिनको आत्मीक सच्चे सुखका पता नहीं है वे शरीरके सुखको सुख मानते हैं वे इन्द्रियोंके दास होजाते हैं। और इन इंद्रियोंके द्वारा जो नानाप्रकारकी इच्छाएँ पैदा होती हैं उनहीको पूरा करनेके लिये रात दिन उद्यम करते

रहते हैं । वे धनके पिपासु होकर, किसीको सताकर, झूठ बोलकर, चोरी करके, विश्वासघात करके धन कमानेमे ग्लानि नही मानते, उनको अपनी स्त्री व परस्त्रीका विवेक नही रहता है, वे भक्ष्य व अभक्ष्यके विचारसे शून्य होजाते हैं । जिसतरह इद्रियोकी तृप्ति हो उसी तरह वर्तन करना उनके जीवनका ध्येय बन जाता है । उनको मास व मदिरासे भी परहेज नही रहता है । उनकी जो जो क्रियाए होती हैं वे सब हानिकारक होती हैं । इद्रियोकी लम्पटतासे विवेकशून्य हो, चाहे जो कुछ खा पी लेते है और वे रोगोके शिकार होजाते है, अधिक विषयभोगसे निर्बल होजाते है । फिर तो उनको शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी महान् कष्ट होते है । उस समय उनके मनकी आकुलताको समझना एक अनुभवी मानवका ही काम है । इद्रियोके भोगोकी चाहना रहनेपर भी वे विचारे इद्रियोका भोग शरीरकी निर्बलता व रोगके कारण नही कर सकते । आर्तध्यानमे मन दुखित रहता है । यदि कदाचित् थोडी भी मुक्ति रोगसे होजाती है कि फिर अन्धे हो विषयोके वनमे पागल हो दौडते है, फिर अधिक रोगी होजाते है । भावोमे तीव्र विषयवासनासे, व हिंसा, झूठ, चोरी कुशील तथा तीव्र शरीरकी व धनकी व विषयभोग योग्य पदार्थोकी ममतासे अशुभ उपयोगमे फसजाते है । यह अशुभ उपयोग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय औरमोहनीय कर्मका तीव्र बध करता है, साथमे असाता वेदनीय, अशुभनाम व नीच गोत्रका बध हो

जाता है तथा जब आयुकर्मके बंधका अवसर आता है तब यह प्राणी नरक व पशु आयुको बांध लेता है। एक न एक दिन चाहकी दाहमें जलता हुआ शरीर त्यागता है और नारकी या पशु या एकेंद्रिय जीव पैदा होजाता है। इसतरह विषयलम्पटी प्राणी अपने इस अमूल्य शरीरको नष्ट करते हुए इस लोकमें दुःखी व अपयशके भागी होते हैं और परलोकमें कुगतिके अधिकारी होते हैं। आचार्य खेद करते हैं कि ऐसे अज्ञानी लोगोंको क्या यह मालूम नहीं है कि यह शरीर शरदऋतुके मेघोंकी तरह नष्ट होनेवाला है, यह स्थिर रहनेका नहीं है। जैसे मिट्टीका घडा थोडीसी ठोकर लगनेपर टूट जाता है ऐसे ही यह शरीर आयु-कर्मके क्षयसे कभी तो पूरी आयु भोगकर कभी अकालमें ही छूट जाता है, तब पछताता हुआ चला जाता है। तब वे कोई भी सचेतन या अचेतन पदार्थ इसका साथ नहीं देते हैं जिनके ऊपर ये अपने सुखका आधार रखता था।

थोडीसी मनुष्यायुमें पापोंका उद्यम करके इसलोक और पर-लोकको बिगाडकर वे मूर्खजन अपना घोर अहित करलेते हैं। आचार्य सचेत करते हैं कि हे जीवो! यदि तुम इंद्रियोंके दास न होकर उनको अपने वशमें रखते और अपनी बुद्धिबलसे अपने आत्माको समझ लेते तो तुम्हें आत्माके भीतर रहे हुए सुख समु-द्रका पता लग जाता जिसमें स्नान करनेके लिये किसी परपदार्थ की जरूरत नहीं रहती है। यदि आत्माको समझ लिया जाता तो जगतकी आत्माओंसे प्रेम पैदा होजाता तब यह हिंसादि पापोंमें स्वयं नहीं प्रवर्तता किन्तु जीवदया व परोपकारभावसे वर्तता हुआ पुण्यकी कमाई करता—इस नश्वर शरीरसे आत्मोन्नति कर

जाता। यहां भी सुखी रहता और परलोकमे भी शुभ भावोंसे शुभ गति पाता है। बुद्धिमानोंको खूब सोच विचारकर इस शरीरका उपयोग कुचेष्टाओमे न करके सुकर्म मे करना चाहिये। जिससे यह मानवजीवन स्व पर उपकारी बनकर अपना समय सफल कर सके।

श्री अमितिगति आचार्य सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं कि इंद्रियसुखोमे लीनता महान मूर्खता है।

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवात ।
तत्व विविक्तभवगम्यजिनौशिनोक्तम् ॥
य सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य ।
हस्तेऽमृत पिबति रौद्रविप निहीन ॥९५॥
दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवा ।
धर्म धुनाति विदधाति विनिन्द्य कर्म ॥
रेकञ्चिनोति कुरुतेऽति विरुपवेप ।
किं वा हृपीकवसतस्तनुते न भर्त्यं ॥९६॥

भावार्थ—जो अज्ञानी जिनेन्द्रके कहे हुए उस आत्म स्वरूपको जो सर्व परभावोंसे रहित है व जो नाना प्रकार आपत्तियोंकी धूलके ढेरको उडानेके लिए पवनके समान है, भलेप्रकार समझकर विषयोंके सुखको सेवता है वह मूर्ख हाथमे आए हुए अमृतको छोडकर भयानक विषको पीता है। जो इन्द्रियोका दास होजाता है वह दूसरोंकी चाकरी करता है, नीचोकी सेवा करने लगता है, धर्मको नाश कर देता है, हिंसादि निन्द्यकर्मको करने लगता है, पापोको सचय करता है, अपना रूप अति कुरूप कर लेता

है। अधिक क्या कहे इद्रियोके वशमे पडा मानव क्या२ अनर्थ नही कर लेता है? वास्तवमे जो इद्रियोका दास है वह पशुसे भी निकृष्ट है। मानव ही वह है जो इद्रियोको कावूमे रखकर अपना जीवन सुकार्योमे विताकर सफल करता है।

मूलश्लोकानुसार गीता छन्द।

जग नीच जन हो दास इन्द्रिय काय सुखको चाहते।
इस लोकद्वयको नाशकारी कर्म निन्द्य रचावते॥
बहु काय मन पीडा सहे सो काय शारद मेघ सम।
यह नष्ट होती हा! कुधी नित पाप करते हैं अधम॥९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहमे अन्धी हुई बुद्धि ससार बढानेवाली और मोक्षको बहुत दूर रखनेवाली है।

कातेय तनुभूरय सुहृदय मातेयमेषा स्वसा।
जामेय रिपुरेष पत्तनमिद सद्मेदमेतद्वनम्॥
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा ससारसवर्द्धिनी।
तावद्गच्छति निर्वृति बत कुतो दु खद्रुमोच्छेदिनी॥१०॥

अन्वयार्थ—(इय) यह (काता) स्त्री है (अय) यह पुत्र है (अय) यह (सुहृत्) मित्र है (इयम्) यह (माता) मा है (एषा) यह (स्वसा) बहिन है (इय) यह (जामा) पुत्री है (एष) यह (रिपु) शत्रु है (इद) यह (पत्तनम्) नगर है (इदम्) यह (सद्म) घर है (एतत्) यह (वन) बाग है (यावत्) जबतक (एषा) ऐसी (अधमा) तुच्छ व (ससारसवर्द्धिनी) ससारको बढानेवाली (बुद्धि) बुद्धि (उदेति) पैदा होती रहती है (तावत्) तबतक (कुत) किस तरहसे (दु खद्रुमोच्छेदिनी) दु खरूपी वृक्षोको

छेदनेवाली (निर्वृति) मुक्तिको (गच्छति) यह जीव पहुँच सकता है (वत) यह बडे खेदकी बात है।

भावार्थ—यहापर आचार्य खेद प्रगट करते हुए कहते हैं कि मोही जीव मोहमे फसकर अपने स्वरूपको भूल जाता है इस लिये अनन्त सुखको देनेवाली मुक्तिको कभी नही पासकता है। वास्तवमे मुक्ति अपने सच्चे आत्माके स्वभावकी प्राप्ति है और वह अपनेसे ही अपनेको अपनेमे ही प्राप्त होती है। जिसका उपयोग अपने आत्माके स्वभावके सन्मुख होगा वही आपको पाएगा, परतु जिसका उपयोग अपने आत्माको छोडकर परपदार्थों मे रमता है वह कभी भी अपने स्वरूपको नही पासकता है। ससारका कारण मोह है, जब कि मुक्तिका कारण निर्मोह है। मोही जीव क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोके वशीभूत पडे रहते हैं, इसीलिये कर्मको बाधकर ससारकी चारो गतियोमे भ्रमण किया करते हैं। मोही जीवोको अपने आत्माका अपने शरीरसे भिन्न विश्वास नही होता है। वह शरीरको ही आपा माना करते हैं। शरीरकी भ्रमतासे वे पाचो इद्रियोकी इच्छाओंके दास होजाते हैं। उन इच्छाओकी पूर्ति करनेमे जो चेतन व अचेतन पदार्थ सहकारी हैं उनहीसे गाढ प्रीतिवान होजाते हैं। इसलिये शरीरके जितने सम्बन्ध हैं उनको अपना सम्बध समझ लेते हैं, पुत्र, पुत्री, मित्र आदिके मिलनेमे हर्ष व उनके वियोगमे विषाद किया करते हैं। एक कुटुम्बमे जीव भिन्न २ गतियोसे आकर जमा होजाते हैं वे ही जीव आयु पूरी करके अपनी २ बाधी गतिके अनुसार चले जाते हैं। धर्मशालामे यात्रियोंके समागमके समान कुटुम्बीजनोका समागम है। मोही जीव उनसे गाढ मोह करके अपने स्वात्माको भूल जाते हैं। इसी लिये आचार्यने बताया है कि जबतक इन भिन्न पदार्थोंमें ममकार है

कि यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह घर मेरा है, यह देश मेरा है, यह नगर मेरा है, वहा तक मेरा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव मेरा है, मेरा पद सिद्धपद है, मेरी परिणति शुद्ध वीतराग है यह बुद्धि नहीं जमती अर्थात् भेद विज्ञानको न पाकर वे कभी भी आत्माके श्रद्धावान नही हो पाते। वे उन्मत पुरुषकी नाई जगतमे चेष्टा करते हुए अनतकाल खोया करते हैं। इसलिये श्री अमितिगति महाराजका तात्पर्य यह है कि अब तो तुम समझो, अब तो परपदार्थोंको अपना मानना त्यागो तथा अपने आत्मीक शुद्ध गुणोंको अपना मानो। जिससे निज आत्माका अनुभव प्राप्त हो-यही तत्वभावनाका फल है।

अनित्यपचाशत्मे श्री पद्मनदि मुनि कहते हैं—

दु खव्यालसमाकुल भववन जाड्यांधकाराश्रित ।
तस्मिन्दुर्गति पल्लिपाति कुपथे भ्राम्यति सर्वेगिन ॥
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुर ।
प्राप्यालोक्य च सप्तय सुखप्रद याति प्रबुद्धो ध्रुव ॥१७॥

भावार्थ—यह ससाररूपी वन दु खरूपी अजगरो (सर्पों) से भरा हुआ है, यहा अज्ञानरूपी अधकार फैला हुआ है। इस वनमे दुर्गतिरूपी भीलोकी तरफ लेजानेवाला खोटा मार्ग है। ऐसे वनमे सर्व ही ससारी प्राणी भ्रमण किया करते हैं। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वनके मध्यमे गुरुके वचनरूपी दीपकको, जो निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे चमक रहा है, पाकरके सच्चे मार्गको ढूढकर अविनाशी आनन्दमई पदको पहुच जाता है। -

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

यह नारि पुत्र सुमित्र माता है हमारी यह बहन ।
पुत्री अरी यह घर नगर मेरा यही है सार बन ॥
जबतक रहे यह नीच मति ससारका वर्द्धन करे ।
तब दु खतरु हन्त्री मुकति तिय किस तरह सुखसे वरे ॥१०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भेद विज्ञानसे ही मुक्ति हो सकती है ।

नाह कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भाव परो विद्यते ।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालक्कृतिम् ॥
यस्यैपा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थिते ।
बधस्तस्य न यत्रित त्रिभुवन सासारिकैर्बन्धनै ॥११॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेक्षणालक्कृतिम्) ज्ञान दर्शन स्वभावसे शोभायमान तथा (अपास्तकर्मसमितिं) द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मके समुदायको दूर रखने वाले (आत्मानम्) आत्माको (मुक्त्वा) छोडकर (कश्चन) कोई भी (पर) अन्य (भाव) भाव (मे) मेरा (न) नही (विद्यते) है (न) और न (अह) मैं (कस्यचित्) किसी अन्यका (अस्मि) हूँ (एपा) ऐसी (मति) बुद्धि (ज्ञातात्मतत्वस्थिते) आत्मस्वरूपकी मर्यादाको जाननेवाले 'यस्य' जिस किसीके (चेतसि) चित्तमे (सदा) नित्य (अस्ति) रहा करती है (तस्य। उस महात्माके (वध न) कर्मोंका वध नही होता, यो तो (त्रिभुवन) तीनो लोकके ससारी प्राणी (सासारिकै बन्धनै) ससारके बधनोंसे (यत्रित) जकडे हुए हैं ।

भावार्थ—यहापर आचार्यने सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञानकी

महिमा बताई है। इस जगतमे यह संसारीप्राणी जीव पुद्गलका मिला हुआ एक आकार रखता है। अनादि कालसे ही इनके कर्मोका बंध होता ही रहता है। कर्मोंके उदयसे रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भाव होते हैं तथा कर्मोंके ही उदयसे शरीर होता है व शरीरके साथी स्त्री पुत्रादि नौकर चाकर होते हैं। कर्मोंके बड़े विकट फैले हुए जालके भीतर इतना सघन आत्माका स्वरूप फस जाता है कि तत्त्वज्ञान रहित प्राणिओंको आत्माका ज्ञान व श्रद्धान नही होता। हरएक तत्त्वज्ञान रहित मानव या जीव पर्यायबुद्धि बना रहता है। जिस शरीरसे होता है उसी रूप अपनेको मान लेता है। कभी भी अपने असली आत्मस्वरूपको नहीं पाता है। इसीलिये इन्द्रियोंके सुखोंमे मग्न होकर रात दिन इन्द्रियसुखकी चेष्टा किया करता है तथा तीव्र रागद्वेष मोहमे पडकर तीव्र पाप कर्म बांधकर पशु आदि गतियो मे भ्रमण किया करता है। वास्तव मे कर्मबंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। संसारकी जड ही मिथ्यात्व है। जिसने अनतानुबंधी चार कषाय तथा मिथ्यात्वको वश कर लिया है उसने ससार वृक्षकी जड काट डाली है। उसने जो कुछ कषायोंके शेष रहनेसे कर्मका बंध होता भी है वह ससारके भ्रमणको अनतकालीन नही कर सकता है। वह बन्धन अवश्य शीघ्र कट भी जायगा। इसका कारण यह है कि उसकी बुद्धि ससारमे लिप्त नही होती है। क्योंकि उसके अतरगमे यह भेद विज्ञान भले प्रकार जाग्रत है कि मेरे आत्माका स्वभाव ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अमूर्तीक अविनाशी है। कोई भी रागादि भाव आत्मा का स्वभाव नही है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नो कर्म सर्व भिन्न पदार्थ हैं, इस जगतमे परमाणु मात्र भी मेरा

नहीहैं, मेरा स्वरूप सर्व अन्य आत्मद्रव्योंसे भी निराली सत्ताका रखनेवाला है, मेरेमे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका तो अस्तित्व है परन्तु परद्रव्य क्षेत्र काल भावका नास्तित्व है। इस भेद विज्ञान के कारणसे वह सदा आत्मसुखके स्वादका उत्सुक रहता हुआ अपने आत्माका मनन किया करता है। इसलिए उसका आत्मा संसारके बढानेवाले कर्मोंसे गाढ बन्धनमे नही पडता है। आचार्य ने प्रेरणा की है कि ये भव्यजीवो! यदि तुम समताभावको पाना चाहते हो तो इस भेद विज्ञानका भले प्रकार अभ्यास करो, यही स्वानुभवको जगानेवाला है।

एकत्वअशीतिमे पद्मनद मुनि कहते हैं—

हेय हि कर्म रागादि तत्कार्यं च विवेकिन ।
उपादेय पर ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ।
यदेवचैतन्यमहतदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैक परमस्ति निश्चयाद्गतोस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥७५-७६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषोको उचित है कि रागादि सब कर्मोको त्यागनेयोग्य समझकर इनसे मोह छोड दे और ज्ञानदर्शन मई उपयोग लक्षणके धारी परमज्योतिरूप आत्माको जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करले। जो कोई चैतन्यमई है वही मैं हूँ, वही जानता है, वही देखता है, वही निश्चयसे एक उत्कृष्ट पदार्थ है मैं उसीके साथ परम एक भावको प्राप्त हो गया हूँ। इस प्रकार की भावना ही स्वानुभवको उद्योत करनेवाली हैं।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता।

मैं नियत दर्शन ज्ञानमय नहि कर्म बधन राखता।
मैं तो किसीका हूँ नही परभाव मम नहि छाजता॥

सद्बुद्धि ऐसी चित्त जिसके तत्त्व निज पहचानता।
वह बधमे पडता नही जग जतु वधन ठानता ॥११॥

उत्थानिका—फिर भी उपदेश करते हैं कि ससारके मोहमें न पडके आत्मकल्याण करो।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो।
भावा पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादय ॥
तत्र स्व निज कर्मपूर्ववशगा केपा भवन्ति स्फुट।
विज्ञायेति मनीपिणा निजमति कार्या सदात्मस्थिता।१२।

अन्वयार्थ–(यत्र) जिम ससारमे (चित्रोपायविवर्धित) अनेक उपायोसे पालनपोषण करके वढाई हुई (अपि) भी (निजदेहोऽपि) यह अपनी देह भी (आत्मन न) अपनी नही होती है (तत्र) वहा (निजपूर्वकर्मवशग) अपने २ पूर्वमे बाधे हुए कर्मो के वश पडे हुए (पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादय) पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई व पिता आदिक (भावा) विलकुल जुदे पदार्थ (केषा) किन जीवोके (स्व) अपने (स्फुट) प्रगटपने (भवन्ति) हो सकते है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जान करके (मनीषिणा) बुद्धिमान मानवको सदा) सदा (निजमति) अपनी बुद्धि (आत्मस्थिता) अपने आत्मामे स्थिर (कार्या करनी उचित है।

भावार्थ–यहाँ फिर आचार्यने जगतके सम्बन्धको नाशवन्त झलकाया है। जगतके मोही प्राणी अपने इन्द्रियोके विषय भोग मे सहकारी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकोसे राग करते हैं व जो बाधक हैं उनसे द्वेष करते हैं। ये सब सचेतन पदार्थ बिलकुल हमसे जुदा हैं, ये सब अपने २ भिन्न २ कर्मोको बाधकर भिन्न भिन्न गतियोसे आए हैं और इस जन्ममे भिन्न २ कर्म बांधकर

भिन्न २ गतियोंको जायगे। इनको अपना मानना महान मूर्खता है। ये सब कुछ सम्बन्ध रखते हैं तो वह सम्वन्ध इस शरीरके साथ है। शरीरके उत्पन्न करनेवालेको माता पिता कहते हैं। एक माताके पुत्र पुत्रियोको भाई बहन कहते है, शरीरको ही देखकर ये सव जगतके पुजारी अपने २ स्वार्थोंके वश होकर हमारी देहसे प्रीति दिखलाते हैं। जब हमसे स्वार्थ नही निकलता है तव वात भी नही पूछते हैं। आचार्य कहते हैं कि इन पदार्थोके स्नेह टूटनेकी व छूट जानेकी वात क्या करते है। ये तो प्रगट ही जुदे हैं। अरे! यह शरीर जो जन्मसे मरणतक साथ रहता है और जिसको नाना प्रकार भोजन पान देकर खिलाते पिलाते, सुलाते, पहनाते, उठाते, पालते व जिसके लिये पैसा कमाते व रात दिन उसीकी ही चितामे लगे रहते कि कही यह विगड न जावे, ऐसा शरीर भी एक क्षणमात्रमे हमे छोड देता हैं। आयुकर्मके आधीन देहका सम्वन्ध है। आयुकर्मका नाश होते ही एक समयभर भी यह शरीर आत्माका साथ नही दे सकता। तव जो लोग इस देहके साथ व देहके सम्वन्धी स्त्री पुत्रादिके साथ ऐसी दोस्ती वाधते हैं कि मानो हम इनके हैं व ये हमारे हैं वे लोग अवश्य मूर्ख हैं क्योकि इनके मोहमे अन्धे हो वे अपने आत्माके हितको भूल जाते हैं। वे कभी दिन रातमे एक क्षण भी आत्माके हितका चिन्तवन नही करते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि यदि तुम चतुर मनुष्य हो तो नाशवन्त पदार्थोंसे क्यो स्नेह वढाकर अपना बुरा करते हो? इन पदार्थोंका सम्वन्ध यदि है तो इनसे अलिप्त रहते हुए इनसे अपना प्रयोजन साधलो व उनका यथासम्भव उपकार करदो। परन्तु उनके साथ भीतरी प्रीति न रक्खो, इनकी प्रीति अन्तमे धोखा देनेवाली

होगी, इनकी प्रीति शोकसागरमे डुबानेवाली होगी । क्योंकि ये सब पदार्थ एक दिन छूट जाएगे या हम छोडेंगे या वे छोड़ेंगे । खास ध्यान अपने आत्माकी तरफ रक्खो । हमे उचित है कि हम अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको जो निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आनन्दमई हैं पहचानें, उसपर विश्वास लावे व उसीका ध्यान करें तो हमको सुख व शातिका लाभ होगा और हम जो आज अपवित्र हैं वे धीरे २ पवित्र होते चले जायेंगे। वास्तवमे आत्माकी प्रीति हमको पवित्र करनेवाली है और शरीर की व शरीरके सम्वन्धियोकी प्रीति हमें अपवित्र करनेवाली हैं। सुभाषितरत्नसदोहमे श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

किमिह परमसौख्य नि स्पृहत्व यदेत—
त्किमथ परमदु ख सस्पृहत्व यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसगा सदा ये ।
विदधति जिनधर्मं ते नरा पुण्यवन्त ॥१४॥

भावार्थ—इस ससारमे परम सुख क्या है तो वह एक इच्छा-रहित पना है तथा परम दु ख क्या है तो वह इच्छाओका दास हो जाना है । ऐसा मनमे समझकर जो पुरुष सर्वसे ममता त्यागकर जिनधर्मको सेवन करते हैं वे ही पुण्यात्मा व पवित्र हैं । शरीर व शरीरके सम्बधियोके सबधमे चिता करना इच्छाओके पैदाकरने का बीज है, इनसे मोह त्यागनाही इच्छाओके मिटानेका बीज है ।

मूल श्लोकानुसार त्रिभगी छन्द ।

बहु यत्न कराए वर्द्धन पाए देह न थाए जह अपनी ।
तह पुत्र कलत्र पुत्री मित्र जामात्र भगिनी जननी ॥

निज कर्म बसाए सुख दु ख पाए होत सदा ये नहिं अपने ॥
इम जान सुबुद्धी आतम शुद्धी कर निज बुद्धी प्रगटपने ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्म ही जीवका परममित्र है—

दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने यो दुर्निवार पवि ।
पोतो दुस्तरजन्मसिंधुतरणे य सर्वसाधारण ।
यो नि शेषशरीरिरक्षणविधौ शश्वत्पितेवादृत ।
सर्वज्ञेन निवेदित स भवतो धर्म सदा नोऽवतु ॥१३॥

अन्वयार्थ - [य] जो [दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने] कठिनता से नाश करने योग्य बडे कठोर कर्मरूपी पर्वतोको चूर्ण करनेमे [दुर्निवार] किसीसे हटाया न जासके ऐसा [पवि] वज्र है [य] जो [दुस्तरजन्मसिंधुतरणे] कठिनतासे पार होने योग्य ऐसे ससार समुद्रसे पार लेजानेमे [सर्वसाधारण] सर्व जीवोके लिये एकरूप सामान्य [पोत] जहाज है [य] जो [नि शेषशरीरिरक्षणविधौ] सर्व शरीरधारी प्राणियोकी रक्षा करनेमे [पिता इव] पिताके समान [शश्वत] सदा [आद्दत] माना गया है [स] वह [सर्वज्ञेन] सर्वज्ञ भगवानसे [निवेदित] कहा हुआ [धर्म] धर्म [न] हमे [भवत] ससारसे [सदा] हमेशा [अवतु] रक्षित करे।

भावार्थ—यहा आचार्यने जिनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है। असलमे जो जिनधर्मकी शरण ग्रहण करते है उनकी सदा रक्षा होती है। जैनसिद्धांतने बताया है कि जब इस जीवके शुद्ध वीतराग भाव होते है तब तो कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा जब शुभ भाव होते है तब पुण्य कर्मका बध होता है। पुण्य बध दु खोसे बचाता है तथा वीतराग भाव कर्ममलको हटाकर मुक्तिमे पहुँचता

है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र मई निश्चय रत्नत्रय को जो स्वानुभवरूप है जैनधर्म कहते हैं। यह स्वानुभव परम वैराग्यमई है। यहा रागद्वेषसे रहित समतामय भाव है। इस स्वानुभवमे रुकी हुई परिणतिको वीतराग भाव कहते हैं तथा स्वानुभूतिकी रुचि रखते हुए स्वानुभूतिके कारणरूप अर्हत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पचपरमेष्ठियोकी भक्ति करना शास्त्र विचार करना आदि कार्योमे राग भावको शुभोपयोग कहते हैं। यह जैनधर्म परम कल्याणकारी है। इसी स्वानुभव रूप जैनधर्मकी शक्तिसे चार घातिया कर्म नाश होजाते हैं और यह जीव केवलज्ञानी परमात्मा होजाता है। इसलिए यह धर्म पर्वतोके चूर्ण करनेको वज्रके समान है। यह ससार—समुद्र रागद्वेषके जलसे भरा हुआ है। इसमे अनेक विभावरूपी लहरे उठ रही हैं इससे पार होना बहुत कठिन है परन्तु जिनको वीतरागमय और ज्ञानमय धर्मरूप जहाज मिल जाता है वे इसके पार होजाते हैं, यह जहाज सर्व साधारणके लिए है। किसीको इसपर चढनेकी मनाई नही है। जो ससार—समुद्रमे तर जानेके लिये दिलमे पक्के उत्साही हैं उनको यह धर्मरूपी जहाज शरण देता है। क्योकि यह जैनधर्म अहिंसा धर्मके व्याख्यानसे त्रस स्थावर सर्व प्राणी मात्रकी रक्षाका उपदेश देता है व पूर्ण अहिंसाधर्मके धारी साधु तदनुसार वर्तते हुए सर्व जीव मात्रकी रक्षा करते है। अतएव उनका वर्तन पिताके समान होता है इसलिए यह जैनधर्म भी प्राणियोकी रक्षाके उपाय बतानेके कारणसे पिताके समान है। ऐसे पवित्र जैनधर्मको जो सेवा करेंगे वे दु खोसे बचकर उन्नति करते २ परमात्मापदमे अवश्य पहुँच जाएगे। धर्मकी महिमा

श्री शुभचन्द्रजीने ज्ञानावर्णवमें इस भांति कही है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द।

धर्मः शर्मभुजगपुंगवपुरीसारं विधातुं क्षमो।
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिना॥
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्।
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥१२

भावार्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषोंको धर्णेन्द्रपुरीके सार सुखके प्राप्त करानेको समर्थ है। यह धर्म मध्यलोकके महान चक्रवर्ती आदिके सुखोंको देनेवाला है, यही धर्म स्वर्गको निरन्तर रहनेवाले सुखोंके प्रगट करानेका उपाय है, यही धर्म प्राणीको मुक्तिरूपी स्त्रीके भोगने योग्य बना देता है। धर्म हमारा क्या क्या उपकार नहीं करता है? वास्तवमें जिनधर्मका स्मरण तत्त्वभावना है। इसभावनाको कभी नहीं भूलना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

परम कठिन कर्म शैलदलने सुवज्र।
दुस्तर भवसिंधु तारणे सारपोत॥
सकलजगतसत्त्व रक्षकर्ता पितासम्।
जिनकथित धर्म रक्ष भवसे सदा हम॥१३॥

उत्थानिका—आगे जिनवाणीसे प्रार्थना करते हैं—

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मयाभाषितम्।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः॥
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं।
दत्वा ज्ञानं विशुद्धिमूर्जिततमां देयादनिंद्यं पदं॥१४॥

अन्वयार्थ—(मया) मेरेसे (यत् किंचित्) जो कुछ (मात्रापद-वाक्यवार्थ्यविकल) मात्रा, पद, वाक्य व अर्थमें कम बढ़ (भाषितम्) कहा गया हो (तत् अखिलं) उस सर्वको (क्षमित्वा) क्षमा करके (कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मन) क्रोधादि कषाय, गर्व, व विषयोकी चाहनामे आसक्त (अस्य बालस्य मे) ऐसा जो बालक समान मैं उसे (जिनवक्त्रपद्मनिलया) जिनेन्द्रके मुखकमलमें निवास करनेवाली (वाग्देवी) सरस्वतीदेवी अर्थात् जिनवाणी (ऊर्जिततमा) उत्कृष्ट (ज्ञानविशुद्धि) ज्ञानकी निर्मलताको (दत्वा) देकर (अनिंद्य पद) परम प्रशमनीय मोक्षपद (देयात्) प्रदान करें।

भावार्थ—यहापर आचार्यने दिखलाया है कि जिनवाणीको शुद्ध ही पढना चाहिये और शुद्ध ही उसका अर्थ समझना चाहिये फिर भी यदि कभी प्रमादसे कुछ भूल होगई हो, किसी वचनको कमबढ कह दिया हो तो उसके कारण जो पापबंध हुआ हो उसको दूर करनेकेहेतुसे यह भव्यजीव प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप करता है जिनवाणी मुझपर क्षमा करे यह मात्र भक्ति करनेका व उच्च भावना भानेका एक प्रकार है जिससे भावोमे यह बात आजावे कि मुझे शुद्ध हीपढना चाहिये। फिर वह जिनवाणीको हृदयमे धारकर यह विचारता है कि मैं बिलकुल अज्ञानी हूँ इसीसे क्रोध, मान, माया व लोभ कषायोंके वशीभूत होजाता हूँ या पाचो इन्द्रि-योंके विषयोंमे आसक्त होजाता हू जिससे मेरे भावोमे अशुद्धि हो जाती है और मैं कर्मोंका बध कर लेता हू। अब मैं यह प्रार्थना करता हू कि जिनवाणीके निरन्तर मननसे यह मेरी कलुषता मिटे और परम शुद्धता मेरे आत्माको प्राप्त हो अर्थात् शुद्धोपयोग रहा करे जिससे मैं अविनाशी निजपदको पासकू, जहा कोई कर्म

का सम्बन्ध नही रहता है और यह आत्मा स्वय परमत्मा होजाता है। वास्तवमे सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी जीवको वीतराग भावकी ही प्राप्तिका यत्न करना चाहिये। यह वीतरागता उसी समय प्राप्त होती है जब विषय कषायोसे ग्लानि होजावे और शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मासे प्रीति बढ जावे। क्योकि आत्माका स्वभाव ही परम वीतरागमय है इसलिये आत्माके ध्यानसे स्वय वीतरागता झलक जाती है और तब सुखशांतिकी प्राप्ति होती है, पिछला कर्म कटता है। असलमे अत्माकी भूमिमे चलना ही जीवका परम हित हैं।

श्री पद्मनदी मुनि निश्चयपचाशत्मे कहते हैं—

स्वपरविभागावगमे जायते सम्यक् परे परित्यक्ते ।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वय सिद्ध ॥४२॥

भावार्थ—जब आपा परका भेदरूप ज्ञान भलेकार पैदा हो-जाताहै तबपरसे मोह छोड़नेपर यह स्वयसिद्ध आत्मा स्वाभाविक एक ज्ञान स्वरूपमे ठहर जाता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

कथन किया जो मैं शब्द पद अर्थहीन ।
विषय विमोही हो क्रोध मानाद्यधीन ॥
जिनमुखते प्रगटी वाणिदेवी क्षमाकर ।
वर निर्मलज्ञान देय शिवपद कृपाकर ॥१४॥

उत्थानिका—आगे साधक विचारता है कि मेरी बुद्धि ज्ञान होने पर भी विषयोंसे क्यों विरक्त नही होती है—

नि सारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगा. सदा नश्वरा. ।
निंद्यस्थानभवार्तिभावजनका विद्याविदा निंदिता ॥

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय होनेपर श्रद्धान होनेपर भी एक देश भी त्याग नही किया जाता अर्थात् श्रावकके व्रत नही लिए जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदयसे पूर्ण त्याग कर साधुका आचरण नही पाला जाता है। सज्वलन कषाय—जो आत्मदर्शनको नाश नही कर सकते परन्तु जो मल पैदा करते हैं, जो पूर्ण वीतरागताको नही होने देते। जिस किसी महान पुरुषके अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोहके दबनेसे सम्यग्दर्शन होगया है वह पुरुष यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषयभोगोसे कभी भी इस जीवको तृप्ति नही होती है। उल्टी तृष्णाकी आग बढती हुई चली जाती है, इसीलिए ये भोग असार हैं, फल कुछ निकलता नही, तथा भोगोके चले जानेका व अपने मरण होनेका भय सदा बना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हो व मैं कही मर न जाऊं। तथा इन भोगोकी प्राप्तिके लिए व उनकी रक्षाके लिये बडा कष्ट उठाना पडता है और यदि कोई भोग नही रहता है तो यह प्राणी आकुलतामे पडकर दु खी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होने वाले हैं। यातो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड देंगे तथा इनके भोगनेमे बहुत तीव्र राग करना पडता है जिससे दुर्गति होजाती है तथा इसीलिए इन भोगोको विद्वानोने निन्दायोग्य बुरा समझा है।

श्री शुभचन्द्राचार्यने भी ज्ञानार्णवमे कहा है—

अतृप्तिजनक मोहदाववन्हेर्महेन्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्य जगुर्जिना ॥१३॥

विघ्नबीज विपन्मूलमन्यापेक्ष भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थित मुखम् ॥१५॥
यद्यपि दुर्गतिवीज तृष्णासतापपापसकलितम् ।
तदपि न सुखसप्राप्य विपयमुख वाछित नृणाम् ॥२४

भावार्थ—जिनेन्द्रोने कहा है कि इद्रियोंसे होनेवाला सुख कभी तृप्ति नही देता है। यह तो मोहकी दावानल अग्निके वढानेको महान ईंधनका काम करता हे। यह असाताकी परिपाटीका वीज है। इससे आगामी दु ख मिलता ही रहता है। यह इद्रिय सुख विघ्नोका वीज है। सेवते २ हजारो अतराय पड जाते है, आपत्तियोकी जड हे। इस सुखके आधीन प्राणी असत्य चोरी, कुशील, हिसादि पापोमे फसकर इसलोकमे ही अनेक दु खोमे पड जाता है। यह सुख पराधीन है, अपने ही आधीन नही है। तथा भयभीत रखनेवाला है और इस सुखको इद्रियाँ यदि वलवती हो तव इद्रियाँ ही ग्रहण कर सकती है। यह सुख यद्यपि तीव्र रागके कारणसे दुर्गतिका वीज है और तृष्णा सताप तथा पापोसे भरा हुआ है तथापि इच्छित सुख सहजमे नही मिलता है, वडा कष्ट सहना पडता है।

ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होनेपर भी कि ये इद्रिय विपयोके सुख ग्रहण करने योग्य नही है, यह अविरति पुरुष अप्रत्याख्यानादि कपायोको न दबा सकनेके कारण उनके जोरसे व्याकुल होता हुआ विपयभोगोको नही त्यागता है। त्यागना चाहता हे परन्तु त्याग नही कर सकता है। इसीलिये यह विचारता हे कि मैं किससे पूछूँ व किसका आश्रय लूँ व क्या उपाय करूँ जिससे मेरे मनमें

वैराग्य पैदा होजावे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नित्य विचारकरता रहता है तथा जिसे आत्मापर दृढ़ विश्वास होगया है व जिसके स्वरूप का दर्शन सम्यक्त होते समय हो चुका है वह उस आत्माका ही अनुभव समय समय करता रहता है और इसी भेदविज्ञानके अभ्याससे उसके कषाय कर्म धीरे-धीरे दुर्बल होते चले जाते हैं। इसीलिए वैराग्यकी भावना परम कार्यकारी है। तत्वभावनासे ही आत्माका कार्य बनता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द । 15

विषय सुख असारा दुःख भयप्रद अपारा ।
दुर्गति दुखदाता सत निंदित बिचारा ॥
है अथिर विचारूँ खेद ! नहि भोग त्यागू ।
शरण काकी लूँ कौन शुभ यत्न लागूं ॥१५॥

उन्थानिका—आगे भावना करनेवाला विचारता है कि श्री जिनेन्द्रके चरण मेरे हृदयमे सदा जमे रहें यह ही एक उपाय है—

मोहध्वान्तमनेकदोषजनकं मे भर्त्सितु दीपका-
वुत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्रार्चितौ ॥
आश्लिष्टाविव बिंबिताविव सदा पादौ निखाताविव ।
स्थेयास्ता लिखिताविवाघदहनौ बद्धाविवार्हंस्तव ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अर्हन्) हे अर्हन्तदेव (मे) मेरे (हृदि) हृदयमे (अनेकदोषजनक) अनेक रागादि दोषोको पैदा करनेवाले (मोहध्वात) ऐसे मोहरूपी अंधेरेको (भर्त्सितु) हटानेके लिए (दीपकौ) दीपकके समान (इन्द्रार्चितौ) इन्द्रोके द्वारा पूजने योग्य तथा (अघदहनौ) पापोके जलानेवाले (तव) आपके (पादौ) दोनो

चरण (सदा) हमेशा (स्थेयात्मना) ठहर जाय (उत्कीर्णा इव) मानो दिलमें अग्नि होजावे (कीलितो इव) या मानो कीलके समान गड जावे (स्यूतो इव) या मानो सीजाय (अग्निष्टी इव) या मानो चमड़ा होजावे (विविर्नो इव) या मानो छायाकी तरह जम जावे (निखाता इव) या मानो जड़ रूपके समान होजावे (लिखितो इव) या मानो लिख दिए जाव (वद्धौ इव) या मानो बांध दिए जावें अर्थात् मैं कभी आपके चरणोंको न भूलूं ।

भावार्थ यहां आचार्यने भक्ति भावको भले प्रकार दिखलाया है । यह कहना कि आपके चरण मेरे हृदयमें जमकर बैठ जावें कि मानो दिल उनके साथ एक मेक होजावे इस बात के बतानेका एक अलंकार मात्र है कि आपका वास्तविक आत्मिक स्वरूप मेरे मनमें जम जावे अर्थात् मेरा मन आपके आनंदमई शांत स्वभावमें मग्न होजावे, इसका भी भाव यही है कि मेरे मनमें सब अनात्मीक भाव हट जावें और एक आत्मीक शुद्ध भाव प्रगट होजावे । इसको स्वात्मानुभव कहते हैं । वास्तवमें यही दीपक है जिससे अनादिकाल का मोहका अंधेरा दूर होता है । इसी ज्ञानाग्निके तेजसे अनेक पापोंके ढेर जल जाते हैं । वास्तवमें जो आत्माको जानते हैं वे ही अर्हंत परमात्माको हैं । जो अरहन्त परमात्माको पहचानते हैं वे ही आत्माको जानते हैं । क्योंकि निश्चय नयसे आत्मा और परमात्माका स्वभाव एक समान है । अत्यन्त गाढ भक्ति भी द्वैतसे भावमें ले जानेके लिये निमित्त कारण है । यह भी इस श्लोकका आशय झलकता है कि जहांतक निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोगकी ऊंची अवस्था प्राप्त न हो वहांतक श्रीअर्हंतकी भक्ति, भावोंको मोक्षमार्गमें लगाए रखनेके लिए निमित्त है इसलिए भक्ति करते

रहना चाहिए। अर्हद्भक्तिको साधुजन भी नित्य करते हैं। उनके नित्य छ आवश्यक कर्मोंमे स्तुति और वन्दना कर्म है। गृहस्थ जब प्रत्यक्ष भक्ति श्री जिनेन्द्रकी प्रतिमाओके निमित्तसे अधिकतर करते है तथा परोक्ष भक्ति कम करते है तब साधुजन परोक्ष भक्ति अधिक करते है। प्रत्यक्ष भक्ति जब जिन मंदिरका समागम होता है तब करते हैं। भावोको अशुभोपयोगमे छुड़ाकर शुभोपयोगमे लगानेके लिए अर्हंत भक्ति वडा प्रबल उपाय है। गृहस्थोंको नित्य अर्हंत भक्ति करके अपने अपने भावोंको उज्वल करना योग्य है। यद्यपि अरहत वीतराग हैं, हमारी भक्ति किए जाननेसे प्रसन्न नहीं होते है तथापि उनके गुणोंके स्मरणसे व उनके शांति स्वरूपके दर्शनमे हमारे भाव शांत होजाते हैं। इसलिए भगवद्भक्ति निमित्त कारण है। हमारे कल्याणके लिए ऐसा माननेमे कोई हानि नहीं है। अर्हंत् भक्ति क्षणमात्रमे बड़े बड़े पापोंको काट देती है और महान् पुण्यको बाध देती है। ज्ञान सहित अर्हंत् भक्ति मोक्षमार्ग है। यह १६ कारण भावनामे एक उत्तम भावना है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोध चन्द्रोदयमे कहते हैं—

सविशुद्धपरमात्मभावना सविशुद्धपदकारण भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतञ्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

भावार्थ—शुद्ध परमात्माकी भावना शुद्ध पदकी कारण हो जाती है तथा अशुद्ध आत्माकी भावना अशुद्ध भावके लिए कारण है। सोनेमे सोनेकी चीज व लोहेसे लोहेकी चीज बनती है। अतएव श्रीजिनेन्द्र परमात्माके गुणोंका चिन्तवन सदा ही करते रहना चाहिए, क्योंकि यह चितवन वीतरागभावमे पहुँचानेवाला परम मित्र है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द । 16

तव चरणजिनेन्द्र पाप नाशक बताए ।
हृदय बस अपने मोह तम सब भगाए ॥
दीपक सम रक्खू कील डालूं बिठाऊं ।
पूजित इन्द्रोंसे मीन डालूं जमाऊं ॥१६

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परका संयोग न रहना ही सुखकर है—

संयोगेन दुरन्तकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो ।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्याघ्याश्रिते ॥
सङ्गस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना ।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम् ॥१७ ॥

अन्वयार्थ—(मृतिजराव्याघ्रव्याघ्याश्रिते) मरण और जन्म रूपी बाघोंके समूहसे भरे हुए (भवकानने) इस संसार वनमें (दुरन्तकल्मषभुवा) तीव्र पापको पैदा करनेवाले (येन) जिसके (संयोगेन) संयोगसे (त्वं) तुमने (किं दुःखं) क्या २ दुःख (न) नहीं (प्रापित.) पाया है (तेन) उस (दुरात्मना) पापीके साथ (तव संग) तेरा संग (यथा) जैसे (स्वप्नेऽपि) स्वप्नमें भी (न जायते) नहीं हो (तथा) वैसे (किंचित् कर्म) कोई काम (निश्चलं) स्थिर (मन) मनको (कृत्वा) करके (हृदये) हृदयके भीतर (कुरुष्व) कर ।

भावार्थ—यहां भी आचार्यने संकेत किया है कि मोहकी गाँठ जो तेरे दिलके भीतर पड़ी है उसको काट डाल । वास्तवमें मोह बड़ा पापी व दुष्ट है । इसीकी संगतिसे यह प्राणी रहकर संसारके स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि परिग्रहको अपना माना करता

है । तब किसीसे राग, किसीसे द्वेष करता है, इस मोह रागद्वेष के कारण तीव्र पापका बध करता हुआ ससार् वनमे भ्रमता है, जिस वनमें वुढापा होना, और मरना ये दो वड वाघ हैं जो इसको पकडकर दु खी करते व सताते हैं इसके सिवाय अनेक शारीरिक और मानसिक क्लेश प्राप्त होते हैं। इस ससारके भीतर चार गतिया हैं, जहा ही जाता है वहाँ ही आकुलतामे पड जाता है । देवगतिमे भी इद्रियभोगोकी आकुलता रहती है व इष्टका वियोग होता रहता है व अन्यकी अधिक सपत्तिको देख कर दिलमे जलन पैदा होती है । वारवार इस ससारमे मरता है और कष्ट उठाता है । श्रीगुरु कहते हैं—इस मोहके वशमे पडा हुआ तुझे अनतकाल ससार वनमे चक्कर देते हुए और भटकते हुए वीत गया । तू जन्म मरण करता ही रहा और भयानक दु खोको पाता ही रहा, अव कुछ पुण्यके उदयसे यह मानव जन्म पाया है तथा सत्सगतिसे उस जनधर्मके रहस्यको जाना है जो जीवोको ससार् वनसे निकालकर मुक्तिके अचल धाममे विराजमान कर देता है । इसलिये अव प्रमादको छोडकर ऐसा कोई उद्यम करना उचित है जिससे इस मोह शत्रुसे पल्ला छूटे और ससारका भ्रमण मिटे और परम निराकुल पद प्राप्त हो। उपाय यही है कि मनको निश्चल किया जावे, मिथ्यादर्शनके विषको उगला जावे, सम्यग्दर्शन रूपी परम अमृतको प्राप्त किया जावे, भेद विज्ञानके प्रतापसे आत्मानुभवको जागृत कियाजावे, आत्मीक आनन्दमे विलास किया जावे, यह आनद भोग ही ऐसा अपूर्व शास्त्र है जो मोहके खड खड कर देता है। इसी ही अमोघ शस्त्रसे मोह-शत्रुका नाश होजाता है और यह आत्मा मोहसे छूटकर शीघ्र ही अर्हंत परमात्मा होकर अनत सुखमे मग्न होजाता है, फिर शरीर रहित हो सिद्ध होकर निराकुल भावका

अनतकालके लिए अधिकारी हो जाता है । जैसा श्री ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं कि इस तरह विचारकर आत्मानुभव पाना चाहिये—

तावन्मा पीडयत्येव महादाहो भवोद्भव ।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाह प्रवर्तते ॥११॥

भावार्थ—जबतक ज्ञानरूपी समुद्रमे मेरा अवगाह नही हुआ है तबतक ही ससारमे उत्पन्न हुआ महादाह मुझे पीडित करता है—

तत्सम्पाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरजित ।
योजयत्यात्मनात्मान तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥३५॥
अनन्यशरणीभूय स तस्मिंल्लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्य यथा व्रजेत् ॥३७॥
सोऽय समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८॥

भावार्थ—जो उस शुद्धात्माके स्वरूपमे मन लगाकर उसीके गुणोंमे रजायमान होजाता है वह अपनेमे ही अपने आत्माको अपनेमे अपने आत्माके स्वभावकी सिद्धिके लिये जोड देता है। वह अन्य वस्तुका आश्रय छोडकर उस आत्मामे ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता व ध्यानका भेद मिटकर ध्येय पदार्थसे एकतान होजाता है । यही वह समरसी भाव है, यही एकीकरण है जहा आत्मा परमात्मामे एकी भावमे लय होजाता है। यही आत्मानुभव ससारवनमे निकालनेवाला मित्र है ।

मालिनी छन्द

मरण जरा हिंसा पूरित भव वनीमे।
क्या दुख न उठाए मोहकी सगतीमे॥
करके मन निश्चल यत्न ऐसा उचित कर।
जो सङ्ग न आवे स्वप्नमे भी कलुषकर॥१७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यद्यपि यह मानव देह महान अपवित्र है तथापि इससे अपना आत्मकल्याण करलेना उचित है—

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुपा स्वर्गापवर्गश्रिय।
साध्यते सुखकारणा यदि तदा सपद्यते का क्षति॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखद रत्न यदि प्राप्यते।
लाभ केन न मन्यते वत तदा लोकस्थिति जानता॥१८॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (दुर्गंधेन) इस दुर्गंधसे भरे हुए तथा (मलीमसेन) मलीन (वपुषा) शरीरसे (सुखकारिणा) सुखको करनेवाली (स्वर्गापवर्गश्रिय) स्वर्ग और मोक्षकी सपत्तियं (साध्यते) प्राप्त की जाती हैं (तदा) तब (का) क्या (क्षति) हानि (सपद्यते) होती है। (यदि) यदि (विगर्हितेन) निंदनीय (निर्माल्येन) निर्माल्यके द्वारा (सुखद रत्न) सुखदाई रत्न (प्राप्यते) मिल जावे (तदा) तब (लोकस्थिति) जगतकी मर्यादाको (जानता) जाननेवाले (केन) किस पुरुपसे (लाभ) लाभ (न मन्यते) न माना जायगा?

भावार्थ—यहा आचार्य बतलाते है कि यह शरीर परम अपवित्र दुर्गंधमय है—हाड, चाम, मास, रुधिर आदिका बना हुआ है। निरतर अपने करोडो रोमोंसे और मुख्य नव द्वारोसे मैलको ही निकालता है, पवित्र जल चदनादि पदार्थ भी जिसकी

कि इद्रियोके विषयभोगोमे इस शरीरको रमाकर अपना बुरा न करें। यह शरीर तो कानेसाठे (गन्ने) के समान है जिसको खानेसे मजा नही आता है परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो मीठे २ साठोको पैदा करता है। इसी तरह इस शरीरके भोगनेमे शाति नही मिलती है किन्तु यदि इसे तप सयम ध्यानमे लगा दिया जावे तो मोक्षके अपूर्व सुखोको व स्वर्गके साताकारी सुखोको पैदा करा देता है। इसलिये शरीरसे मोह छोडकर आत्म हित करना ही श्रेय है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

अजिनपटलगूढ पजर कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धै पूरित मूढ गाढम् ।।
यमवदननिषण्ण रोगभोगीन्द्रगेह ।
कथमिह मनुजाना प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।१३।।

भावार्थ—हे मूढ प्राणी! इस ससारमे यह मनुष्योका शरीर चर्मके पर्देसे ढका हुआ हाड़ोका पिजरा है, बिगडी हुई पीपकी दुर्गंधसे खूब भरा हुआ है तथा रोगरूपी सर्पोका घर है और कालके मुखमे बैठा हुआ है, तब ऐसे शरीरसे किस तरह प्रेम किया जावे। श्री पद्मनदि मुनि शरीराष्टक मे कहते हैं—

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे ।
हृदि गुरुवचन चेदस्ति तत्तत्वदर्शि ।।
त्वरितमसमसारानदकदायमाना ।
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मी ।।७।।

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहो परन्तु यदि परम गुरुका वचन जो तत्वको दिखलानेवाला है मेरे मनमे रहे तो उसके प्रभावसे अर्थात् उस उपदेश

पर चलनेसे मुझे इसी शरीर द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्दसे भरिपूर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होजावे।

इसलिए इस नर तनसे धर्मपालकर स्वात्म लाभ कर लेना ही उचित है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

यदि अशुचि शरीर साधता सौख्यकारी।
दिव शिवपद अनुपम हानि क्या तव विचारी ॥
निदित लघु वस्तू छोडते रत्न पावे।
बुधजन तब यामे लाभ ही लाभ भावे ॥१८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि बुद्धिमानोको उचित है कि सर्व सकटोको दूर करनेवाले जैनधर्मका पालन करे।

मृत्यूत्पत्तिवियोगसगमभयव्याध्याधिशोकादय ।
सूद्यते जिनशासनेन सहसा ससारविच्छेदिना ॥
सूर्येणेव समस्तलोचनपथप्रध्वसबद्धोदया।
हन्यते तिमिरोत्करा सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नक्षत्रविक्षेपिणा सूर्येणेव) जैसे नक्षत्रोको छिपानेवाले सूर्यके द्वारा (समस्तलोचनपथप्रध्वसबद्धोदया) सबकी आखोमे देखनेकी शक्तिको रोकनेवाले (सुखहरा) और सुखको हरनेवाले (तिमिरोत्करा) अँधकारके समूह (हन्यते) नाशकर दिए जाते है वैसे ही (ससारविच्छेदिना) ससारको नाश करनेवाले (जिनशासनेन) जिनशासन या जैनधर्मके द्वारा (मृत्यूत्पत्तिवियोगसगमभयव्याध्याधिशोकादय) मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग, भय, रोग, मनका क्लेश, शोक आदि (सहसा) इकदम (सूद्य ते) दूरकर दिए जाते है।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने जैनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है और उसकी उपमा सूर्यसे दी है। सूर्यके सामने जैसे और नक्षत्रोका तेज छिप जाता है वैसे जैनधर्मके स्याद्वाद नय-गर्भित अनेकान्त उपदेशके सामने एकान्त तत्वको पोखनेवाले मतोका तेज लुप्त होजाता है। जैसे सूर्यके प्रकाशसे बडा भारी रात्रिका अधकार जिसके कारणके आखोके रहते हुए भी प्राणी देख नही सकते हैं व जो देखनेके सुखके रोकनेवाला है सो एकदम दूर होजाता है। उसी तरह जिनशासनके सेवनसे जन्म-मरणादि दु खोंसे परिपूर्ण ससारका ही नाश होजाता है, ससार का कारण रागद्वेष मोह है। जिनशासन वीतराग विज्ञान है। अथवा अभेद रत्नत्रयमई है, अथवा शुद्ध आत्माका ध्यान या शुद्धात्मानुभव है। जिससमय यह स्वानुभव जगता है तुर्त मन-का क्लेश व शोकादि भावोंको हटा देता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोगकी चिन्ताको मिटा देता है। ध्याताको निर्भय बना देता है। स्वानुभवसे ही पापोका नाश होता है। यह स्वानुभव ही उच्च श्रेणीपर पहुँचा हुआ शुक्लध्यान कहलाता है जिसके प्रतापसे घातिया कर्मोका नाश होकर यह जीव अर्हंत होजाता है, फिर शेष चार अघातिया कर्मोका भी क्षय कर सिद्ध पर-मात्मा होजाता है। अब इसका न जन्म होता है न मरण होता है। यह जीव सिद्धपदमे निश्चलतासे अतकाल स्थित रहता है और अपने आत्मीक आनदका विलास करता है। जिस जैनधर्म के सेवनसे यहा भी सुख होता है और परलोकमे भी सुख होता है उसकी ओर श्रद्धाभाव रखकर उसका आचरण करना निरतर उचित है। जो इस मानवजन्मको पाकर जिनशासनरूपी जहाज पर चढ जाते हैं वे अवश्य नि शक होकर ससार-समुद्रको तय

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसका लक्ष्य शुद्धात्माकी तरफ है वही शुद्धात्म भावको पाता है—

मन्दाक्रान्ता छन्द।

चित्रारम्भप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा।
यस्य स्वान्ते स्फुरदि न मुनेर्मुष्णती लोकयात्राम्॥
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारे।
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचयं ब्रह्मसद्म प्रयाति॥२०॥

अन्वयार्थ--(यस्य) जिस (मुने) मुनिके (स्वान्ते) अन्तरङ्गमें (चित्रारम्भप्रचयनपरा) नाना प्रकार हिंसादि आरम्भोंमें लगने वाली (लोकयात्राम मुष्णती) व मोक्षकी यात्राको चोरनेवाली (लोकयात्रा) लौकिक प्रवृत्ति (सर्वदा) कभी ही (न स्फुरति) नहीं प्रगट होती है (असौ) वही साधु (आत्मतत्त्वप्रचारे) आत्मीकतत्त्वके मननमें (स्थिरतर) अति दृढ़ (आत्मानं) अपने आत्मा को (कृत्वा) करके (अशेष) सर्व (कलिलनिचय) कर्मोंके मैलके ढेरको (क्षिप्त्वा) दूर फेंक कर (ब्रह्मसद्म) ब्रह्मलोक या सिद्धलोकको प्रयाति चला जाता है।

असि मसि कृषि आदि कर्मका व रसोई पानी बनवाने आदिका रंचमात्र भी विचार नहीं करते हैं। वे जानते है कि ये संसारके व्यवहार रागद्वेषको बढानेवाले, चिन्तामे फसानेवाले और स्वानुभव रूप मोक्षकी यात्राके मार्गसे हटानेवाले हैं। इसलिए वे राज्यपाट गृहनगर आदिको छोडकर अत्यन्त दूर एकान्त निर्जन वनोंमे निवास करते हैं, अपने मनमे रातदिन मुक्ति-सुन्दरीके मिलनेकी उत्कठामे लगे रहते हैं, वे साधुजन अपने ही आत्माके निश्चय स्वरूपका विचार करते हैं और उसी आत्मानुभवमे थिरता पानेका उद्यम करते है। जितना २ आत्मानुभव बढता जाता है और वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है, उतना उतना ही कर्मोंका अधिक क्षय होता जाता है और बधका अभाव होता जाता है। आत्मसमाधिरूपी नौकापर चढे हुए साधु आत्मानद को पाते हुए बडे सुखसे इस ससारकी विशाल यात्राको उल्लघन करके मोक्षमे पहुँच जाते हैं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जो ब्रह्मानदके स्वादके चाहनेवाले है उनको सर्व आरभ परिग्रहसे विरक्त होकर साधुके चारित्रको पालते हुए आत्मध्यानका अभ्यास बढाना जरूरी है। जिन साधुओंकी दृष्टि सदा आत्मानुभवकी तरफ लगी रहती है वे ही साधु शीघ्र मुक्तिको पहुँच जाते हैं।

जैसा श्री पद्मनदि मुनिने सद्बोधचद्रोदयमे कहा है कि आत्मध्यान ही मुख्य है—

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतम् स्नानमत्र कुरुतोत्तम बुधा ।
यत्र यात्यपरतीर्थकोटिभि क्षालयत्यपि मलं तदतरम् ।२८

भावार्थ—हे बुद्धिमानो! आत्मज्ञानरूपी पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है, उसमें बराबर स्नान करना चाहिये। जो कर्ममल अन्तरङ्गमें है व जिसको अन्य तीर्थ नहीं धो सकते उस मैल को यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो देता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जिस मुनिके मनमें लोक व्यवहार नाश।
शिव पथ हतानि घोर आरम्भ त्यागे॥
नहिं होत सुसाधू आत्म तत्त्वे विरागी।
कर क्षय मल सर्व ब्रह्म पद लेत भागी॥२०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कामदेवरूप बड़ा प्रबल है, इसने सर्व जगत को वश कर लिया है।

नो वृद्धा न विचक्षणा न मुनयो न ज्ञानिनो नाधना।
नो शूरा न विभीरवो न पशवो न स्वर्गिणो नारकाः॥
त्यज्यते समवर्तिनेव सकला लोकत्रयव्यापिना।
दुर्वारेण मनोभवेन नयना हन्तापिनो वञ्चना॥२१॥

भावना का महान घातक यह कामदेव है । श्री पद्मनदि मुनि ब्रह्म चर्य रक्षामे ऐसा कहते है :—

चेतो भ्रांतिकरी नरस्य मदिरा प्रीतिर्यथा स्त्री तथा ।
तत्सगेन कुतो मुनेर्व्रतविधि स्तोकोऽपि सभाव्यते ।।
तस्मात्ससृतिपातभीतमतिभि प्राप्तैस्तपोभूमिकाम् ।
कर्तव्यो व्रतिभि समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ।।

भावार्थ-जैसे मदिरा मनुष्यके चित्तमे भ्राति पैदा कर देती है वैसे ही स्त्री की प्रीति मन को वावला वना देती है । ऐसी स्त्रीकी सगतिमे किसतरह थोडा भी मुनिका व्रत सभव होसता है ? इसलिये जो ससारसागरमे डूवनेसे भयवान हैं और तपका भूमिमे प्राप्त होचुके हैं ऐसे व्रतियोको उचित है कि सर्व स्त्रियोके त्यागमे महान उद्यम रक्खे। मनकी शुद्धि काम भावके त्यागसे ही होती है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द । 21

यम सम दुर्वार काम कृञ्चिद्विकार ।
जगत जनोको है पीडता हन अपार ।।
पशु देव सु वीर वृद्ध मुनि ज्ञानधार ।
प्राणी सब मोहे कामको कर निवार ।।२१।।

उत्थानिका--आगे कहते है कि इस कामभाव को वैराग्य व आत्मध्यानसे जीतना उचित हैं-

शश्वद्दु सहदु खदानचतुरो वैरी मनोभूरयम् ।
ध्यानेनैव नियम्यते न तपसा सगेन न ज्ञानिनाम् ।।
देहात्मव्यतिरेकबोधजनित स्वाभाविक निश्चलम् ।

अवस्थाए हैं। आत्मा असलमे शुद्ध गुण व शुद्ध पर्यायोका धनी है। यह अमूर्तीक है। इसमे न क्रोधादि विकार रूप भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नो कर्म हैं। ससार सम्बन्धी भाव कि मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ यह भी मोह का विकार है। सासारिक सुख तृप्तिकारक नही है, पराधीन है, जबकि आत्मीक सुख स्वाधीन व परम सतोषकारक है। ऐसा भेद विज्ञान जिस किसीके चित्तमे होजाता है और जो इस भेदविज्ञानके बल से आत्मा को सर्व अन्य द्रव्योसे व सर्व प्रकार अशुद्ध भावो से भिन्न अनुभव करता है उसको अभ्यासके बलसे आत्मीक आनन्द का बढ़िया स्वाद आने लगता है। तब उसकी बुद्धिसे इन्द्रियसुखको रुचि हट जाती है। बस यही वह बीज है जिससे कामभाव को जीता जासकता है। जिसको बार-बार आत्मज्ञानके अभ्याससे चित्तकी निश्चलता होजाती है और दृढ उदासीनता ससारके कामोसे होजाती है व निजसुखके भोगनेकी तीव्र रुचि बढ़ जाती है, उसके दिलसे कामभाव बिलकुल निकल जाता है। आत्मज्ञान सहित जो वैराग्य है वही कर्मोकी निर्जरा करता है। इस आत्मज्ञान सहित वैराग्यके लिये उपवास करना, रस त्यागना आदि तप, तथा ज्ञानियोकी सगति मे बैठकर शास्त्रका विचार करना निमित्त है। जो आत्मध्यानकी खोज इन निमित्तोको मिलाकर नही करता है उसके मनमे कामभावका वैरी ब्रह्मज्ञान नही पैदा होता है। इसीलिये आचार्यने दिखाया है कि आत्मध्यान और वैराग्य के बिना, मात्र तप व मात्र ज्ञानियो की सगति करना कामदेवको नाश नही करसकते।

मुख्य आत्मानुभव है, यही औषधि है जिससे वैराग्य आजाता

है और कामका राग मिट जाता है। इसलिये जो सच्चेहितके वाछक हैं उनको वैराग्य सहित आत्मध्यानका अभ्यास सदा करना चाहिये। ध्यानके सम्बन्धमें विशेष कथन पुस्तकके अंतमें दिया गया है वहासे पाठक ध्यानकी रीतियो को समझें। यहा यह मतलब है कि कामभावको आत्माकी उन्नतिका परम वैरी समझकर उसके नाश करनेके उपायमें लगे रहें तथा उसके आक्रमणसे बचनेके लिये सदा सावधान रहे। यह बात अच्छी तरह समझ लें कि कामकी उत्पत्ति मनमें होती है। जिनके मनमें ब्रह्मभावका स्वाद आजाता है वही मन कामभावके स्वादको बुरा जानने लगता है। जैसे किसी मनुष्यने अपने ग्रामके खारे कुएका पानी पिया है और वह उसे ही मीठा समझ रहा है। एक दिन वह दूसरे ग्राममें जाता है और वहाँ उसे मीठे कूएका मीठा पानी कोई पिलाता है, तब उसका भाव एकदम फिर जाता है। वह जब इस मीठे पानीके स्वादका मुकाबला अपने कूए के खारे पानीके स्वादसे करता है तब इसको यह दृढ निश्चय होजाता है कि असली मीठा पानी तो वह है जो आज पिया है। अबतक जो मैंने अपने ग्रामके कूएके पानी को मीठा समझा था सो मेरी भूल थी। इसी तरह जब आत्मध्यानसे आत्मानन्दका स्वाद आने लगता है तब विषयसुख विरस है, सच्चा सुख नहीं है यह बुद्धि जमती है। इसलिये आत्मध्यानका ही उपाय करना परम श्रेयस्कर है। श्री पद्मनदि मुनिने सदबोधचन्द्रोदयमें कहा है कि आत्मध्यान ही परम कल्याणकारी है—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि. वर्जित किमपि यत्तदेव न.।
नान्यदल्पमपि तत्वमदृीशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चय २५

भावार्थ—जो आत्मतत्त्व सर्व रागादि उपाधियोंसे रहित है तथा ज्ञानमय है वही तत्व हमको इष्ट है। उसके समान और कोई भी अल्प भी तत्त्व मोक्षका कारण नही है। यही योगका निश्चय या सार है। अर्थात् आत्मतत्त्वके अनुभव से ही मुक्ति हो सकती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

दु सह दुखकारी, काम रिपु कर निवारी।
कर आतम ध्यान चित्त वैराग्य धारी॥
या विनबुध सङ्ग, औ तप नहि नशावे।
लख आतम भिन्न, देहसे मुक्त पावे॥२२॥

उत्थानिका –आगे कहते हैं कि जो अविवेकी हैं वे सदा ससारचक्रमे भ्रमण करते रहते हैं —

क कालो मम कोऽधुना भवमह वर्त्ते कथ साप्रतम्
किं कर्मात्र हित परत्र मम किं कि मे निज किं परम्॥
इत्थ सर्वविचारणाविरहिता दूरीकृतात्मक्रिया.।
जन्माभोधिविवर्तपातनपरा कुर्वन्ति सर्वा क्रिया॥२३॥

अन्वयार्थ—(मम) मेरा (क) कौनसा (काल) काल है (अधुना) अब (क) कौनसा (भवम्) जन्म है (साप्रतम्) वर्तमानमे (अह) मैं (कथ) किसतरह (वर्ते) वर्ताव करूं (अत्र) इस जन्ममे (मम) मेरा (कि कर्म) कौनसा कार्य (हित) हितकारी है (परत्र) पर जन्ममे (किं) कौनसा कर्म हितकारी है। (मे) मेरा (निज) अपना (किं) क्या है (परम्) पर (किं) क्या है (इत्थ) इस प्रकारकी (सर्व विचारणाविरहिता) सर्व विवेकबुद्धिको न करते हुए (दूरीकृतात्मक्रिया) तथा आत्माका आचार दूर ही

रखते हुए जगतके जन (जन्माभोधिविवर्तपातनपरा)ससारसमुद्रके भवरमे पटकनेवाले (सर्वा क्रिया) सर्व आचरणोको (कुर्वन्ति) करते रहते है ।

भावार्थ---यहापर आचार्यने दिखलाया है कि विवेकी पुरुष व स्त्रीयोको नीचे लिखे प्रकार प्रश्नोको व उत्तरोको विचारते रहना चाहिये----

(१) मेरा कौनसा काल है ?

उत्तर--मेरा काल बालक है, युवा है या वृद्ध है, अथवा यह समय कैसा है । सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष है । रोगाक्रात है या निरोग है । अन्यायी राज्य है या न्यायवान राज्य है, चौथा काल है या पाचमा दुखमा काल है ।

(२) मेरा अब कौनसा जन्म है ?

उत्तर---मैं इस समय मानव हू, देव हू या नारकी हू राजा हू या रक हू ।

(३) मै अब किसतरह वर्ताव करू ?

उत्तर---इसका उत्तर विचार करते हुए अपना ध्येयबनना लेना चाहिये कि मैं क्या इस समय मुनिव्रत पाल सकता हू या क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी श्रावक होसक्ता हू , या मैं गृहस्थमे रहते हुए धर्म साध सकता हू , या मैं गृहस्थमे रहते हुए कौनसी प्रतिमाके व्रत पाल सकता हू , या मैं आजीविकाके लिये क्या उपाय कर सकता हूँ अथवा मैं परोपकार किसतरहकर सकता हूँ ।

(४) इस जन्ममे मेरा हितकारी कर्म क्या है ?

उ०--मैं इस जन्ममे मुनि होकर अमुक२ शास्त्र लिख सकता

हू व अमुक देश, जिलेमे जाकर धर्म का प्रचार कर सकता हू अथवा मैं गृहस्थमे रहकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोको साध सकता हू । और धनसे अमुक२ परोपकार कर सकता हू ।

(५) परलोकमे मेरा हित क्या है ?

उ०--मैं यदि परलोकमे नाताकारी सम्बन्ध पाऊ, जहा मैं सम्यग्दर्शन सहित तत्वविचार कर सकू, तीर्थंकर केवलीका दर्शन कर सकू, उनकी दिव्यध्वनिको सुन सकू, मुनिराजोके दर्शन करके सत्सगतिमे लाभ उठा सकू, ढाईद्वीपके व तेरहद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयोके दर्शन कर सकू, तो वहुत उत्तम है जिससे मैं परम्परासे मोक्ष धामका स्वामी हो सकू ।

(६) मेरा अपना क्या है ?

उ०--मेरा अपना, मेरा आत्मा है, सिवाय अपने आत्माके कोई अपना नही है। आत्मामे जो ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं वे ही मेरी सम्पत्ति है। मेरा द्रव्य अखण्ड गुणोका समूह मेरा आत्मा है। मेरा क्षेत्र असख्यात प्रदेशी मेरा आत्मा है। मेरा काल मेरे ही गुणोका समय२ शुद्ध परिणमन है। मेरा भाव मेरा शुद्ध ज्ञानानदमय स्वभाव है। सिवाय इसके कोई अपना नहीं है।

(७) मेरेसे अन्य क्या है ?

उ०--मेरे स्वभावसे व मेरी सत्तासे भिन्न सर्व ही अन्य आत्माए हैं, सर्व ही अणु व स्कधरूप पुद्गल द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश तथा काल द्रव्य हैं, मेरी सत्तामे जो मोहके निमित्तसे रागादि भाव होते हैं ये भी मेरे नही है न किसी प्रकारका कर्म व नोकर्मका सयोग मेरा अपना है. वे सव पर है।

जो विवेकी इन प्रश्नोको विलकुल विचार नही करते हैं वे आत्मोन्नतिसे सर्वथा दूर रहते हैं। वे वह कुछ भी आचरण नहीं पालते हैं। जिससे आत्माको सुख शाति प्राप्त हो। वे रातदिन ससारके मोहमे फसे रहते हैं और विषय कषाय सम्बधी अनेक न्याय व अन्याय रूप कार्योंको करते हुए अनेक प्रकारके कर्म वाध ससार-सागरमे गोते लगाते रहते हैं। ऊपर लिखित विवेक जिनमे होता है वास्तवमे वे ही मानव हैं। जिनमे यह विचार नही है वे पशुतुल्य नितान्त अज्ञानी तथा मूर्ख हैं, मानव जन्मको पाकर जो विषयोमे खो देते हैं वे महा अज्ञानी हैं।

श्री ज्ञानार्णवमे शुभचन्द्रजी कहते हैं—

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित्।
प्रमादत्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित् कामार्थलालसा ॥
सुप्राप्य न पुन पुसा वोधिवरत्न भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्ट यथा रत्न महामूल्य महार्णवे ॥१२॥

भावार्थ—मानव जन्म' उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इद्रियोकी पूर्णता, वुद्धिकी प्रवलता, साताकारी सम्बन्ध ये सब अत्यन्त दुर्लभ हैं। पुण्य योगसे इनको पाकर भी जो कोई प्रमादमे फस जाते हैं व द्रव्यके और कामभोगोके लालसावान होजाते हैं, वे रत्नत्रयमार्गसे भ्रष्ट रहते हैं। इस ससाररूपी समुद्रमे रत्नत्रयका मिलना मानवोको सुगमतासे नही होता है। यदि कदाचित् अवसर आजावे तो रत्नत्रय धर्मको प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिये। यदि सम्हाल न की तो जैसे महासमुद्रमे हाथसे गिरे हुए रत्नका मिलना फिर कठिन है उसी तरह फिर रत्नत्रयका मिलना दुर्लभ है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

कैसा है काल कौन है जन्म मेरा,
किस विध वर्तूं मै क्या सुहित अत्र मेरा ।
परलोके हित क्या, क्या जु अपना पराया,
ऐसे चिन्ते विन, भव उदधि निज डुवाया ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधु मार्ग ही मुक्तिका कारण है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

येषा काननमालय शशधरो दीपस्तमश्छेदक ।
भैक्ष्य भोजमुत्तम वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम् ॥
सतोषा मृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते ।
धन्या याति निवासमस्तविपद दीनैर्दराप परै ॥२४॥

अन्वयार्थ—(येषा) जिन महात्माओका (आलय) घर (कानन) जगल है,(तमश्छेदक) अधकारको नाशनेवाला (दीप) दीपक(शशधर)चन्द्रमा है, (उत्तम भोजन) उत्तम भोजन(भैक्ष्य) भिक्षाद्वारा हाथमे रक्खा हुआ भोजन लेना है,(शय्या सोनेका पलग (वसुमती) भूमि है,(तु) तथा (अम्बर) कपडा (दिशः) दिशाए हैं (ते) वे (सतोषामृतपानपुष्टवपुषं)सतोष रूपी अमृतके पानसे अपने शरीरको पुष्ट करनेवाले (धन्या)धन्य साधु (कर्माणि)कर्मोंको(निर्धूय)धोकर(परै दीनै)दूसरे दीन पुरुषोंसे (दुराप)न प्राप्त करने योग्य(अस्तविपद)सर्व आपत्तियोंसे रहित निराकुल (निवास) मोक्षस्थानको (याति) प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—यहा आचार्यने दिखलाया है किनिग्रंथ लिगधारी साधु महात्मा ही मोक्षके अधिकारी हैं ।

जिन महात्माओंने धन धान्यसे भरे हुए घरको छोडकर जगलको ही अपना घर बना लिया है, तेलबत्तीसे बने हुए दीपकको छोडकर चन्द्रमाहीसे दीपकका काम लेना शुरू किया है, नानाप्रकार मनोज्ञ मिठाई पकवान भोजन छोडकर भिक्षा द्वारा प्राप्त नीरस सरस भोजनको लेना ही अपना कर्तव्य समझा है, जिन्होंने पलग गद्दे आदि मुलायम बिछौनोंको छोडकर भूमिको ही अपनी निरारम्भी व निराकुल शय्या माना है, जिन महान् पुरुषोंने सर्व प्रकारके रुई आदिके वस्त्रोंको त्यागकर दश दिशाओंको ही अपना स्वाभाविक वस्त्र जाना है ऐसे वस्त्र त्यागी व परिग्रह रहित निर्जन वनवासी साधु ही सदा सन्तोष रूपी अमृतसे तृप्त रहते हैं। वे साताकारी सामग्रीके संयोगमें हर्ष नहीं मानते हैं व असाताकारी पदार्थोंके सम्बन्धमें शोक नहीं करते हैं, निरन्तर आत्मानन्दरूपी अमृतको पीते हुए तृप्त रहते हैं। वे ही साधु अपने वीतराग भावसे कर्मोंको नाश करके अविनाशी मोक्षपदको पालते हैं। जहां कोई न चिंता है न शरीर है, न कोई व्याधि है न कोई आकुलता है, न कुछ काम करना है। जहां निरंतर आत्मानंदका विलास रहता है। ऐसे अपूर्व पदको वे नहीं पासकते हैं जो कायर हैं व दीन हैं। जो घरसे ममता नहीं छोड सकते, जो रसीले भोजन पानके करने वाले हैं। जो मुलायम गद्दोंपर सोते हैं व जो अनेक प्रकार वस्त्रोसे अपने शरीरको ढकते हैं, तथा जो असाता पडनेपर क्रोधी व साता मिलनेपर राजी होजाते हैं ऐसे नाममात्रके साधु कभी भी मुक्तिपदको नहीं पासकते हैं।

श्री पद्मनंदि मुनि यत्याचार धर्ममें लिखते हैं—

परिग्रहवता शिव यदि तदानल शीतलो ।
यदीद्रियसुख तदिह कालकूट मुधा ॥
स्थिरो यदि तनुस्तदा स्थिरतर तडिच्चाम्बरे ।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदन्द्रजालेऽपि च ॥५६॥

भावार्थ—यदि परिग्रह धारी साधुओंको मोक्ष होता हुआ माना जावे तो अग्निको ठडा मानना पडेगा । इद्रियोका सुख होजावे तो विपको भी अमृत मानना होगा । शरीर यदि स्थिर माना जावे तो आकाशमे बिजलीको स्थिर मानना होगा, और यदि ससारमे रमणीकता मानी जावे तो इन्द्रजालके खेलमें रमणीकना मानना होगा ।

मतलब यह है कि परिग्रह त्यागी, इद्रियसुखसे विरागी, शरीरको अनित्य माननेवाला ससारको रमणीक न देखनेवाला ही साधु महात्मा मोक्षका अधिकारी है ।

मूल श्लोकानुसार त्रिभगी छन्द ।

जिनका वन डेरा चद्र उजेरा दीपक नेरा तम नाशे ।
भिक्षा है भोजन अवर दिश गण भूशयनास नपरकाशे ॥
जो सतोपामृत पीवत सुखकृत कर्मन धोवत सुखभासे ।
सो यति शिव पावे विपत् नशावे दीन न पावे
लघुतासे ॥२४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पर पदार्थोंपर स्नेह करते है वे आत्महितसे गिर जाते हैं—

माता मे मम गेहनी मम गृह मे बाधवा मेऽगजा ।
तातो मे मम सपदो मम सुख मे सज्जना मे जना ॥
इत्थ घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थिति ।
शर्माधानविधानत स्वहितत प्राथी सनीस्त्रस्यते ॥२५॥

अन्वयार्थ—(मे माता) यह मेरी माता है (मम गेहिनी) यह मेरी स्त्री है (मम गृह) यह मेरा घर है (मे बान्धवा) ये मेरे बन्धुजन हैं (मे अंगजा) ये मेरे पुत्र हैं (मे तात) यह मेरे पिता हैं (मम सम्पद) यह मेरा धन है (मम सुख) यह मेरा है (मे सज्जना) ये मेरे हितैषीजन हैं (मे जना) ये मेरे परिवारके लोग हैं (इत्थं) इस तरहके (घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थिति) भयानक ममता रूप अंधकारसे जिसका ज्ञान अस्त हो रहा है ऐसा (प्राणी) प्राणी (शर्मविधानविधानत) सच्चे सुखको प्राप्त करानेवाले (स्वहितत) अपने हितकारी कार्यसे (सतीन्द्रस्यते) दूर भगता जाता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बाहरी पदार्थोंमें ममता करनेका कटुक फल दिखलाया है। जैसे मदिराके पीनेसे बुद्धि बिगड़ जाती है, बेहोशी आजाती है, अपनी सुधि नहीं रहती है उसी तरह मोहके कारण यह प्राणी अपनी आत्मा के हितको भूल जाता है। यह जब कभी जरा विचार करता है तो समझ लेता है कि जब शरीर ही अपना नहीं है तब शरीरके साथी माता पिता स्त्री बन्धु पुत्र मित्र परिवार, धन, गृह आदि चेतन व अचेतन पदार्थ अपने कैसे होंगे ? परन्तु कुछ ही देर पीछे फिर ऐसा मोहित होजाता है कि रात दिन इसी ख्याल में फंसा रहता है कि ये मेरे पुत्र हैं यह स्त्री है, यह धन है, ये बन्धुजन हैं इनको मैं पालनेवाला हूँ इन सबको मेरी आज्ञा माननी चाहिये अथवा ये सब बने रहें और मेरा काम चलता रहे। ये सब मेरे इंद्रिय सुखके भोगमें सहकारी हैं यह धन सदा बना रहे, इसीसे मेरा जीना सफल है। प्रातःकालसे संध्या होती है संध्या

से सवेरा होता है) इस मोही प्राणीको इन्ही पर पदार्थोंका ही विचार रहता है। उनके रोगाक्रात होनेपर उनकी दवाईमे, उनके वियोग होनेपर शोक करनेमे इस तरह अपना मन उन्हीके रक्षणमें फसाए रखता है। एक समय भरके लिये भी सच्चे ज्ञान को नही विचारता है कि ये सर्व सम्बन्ध क्षणभगुर शरीरके हैं। इनसे मेरा सच्चा हित न होगा तथा यह धन और इद्रियोंके भोग्य पदार्थ मुझे कभी भी तृप्ति नही देते हैं। जितना मैं इनका सग्रह करता हूँ उतना अधिक मैं प्यासा व तृष्णावान व चिंतातुर बना रहता हूँ। यह जीव रात दिन मोहके प्रपचसे नही छूटता। यह जितना अधिक मोह बढाता है उतना अधिक अपने सच्चे हितकारी कार्यसे दूर होता चला जाता है, हाय हाय करते हुए एक दिन मर जाता है और आर्त व रौद्रध्यानके कारण दुर्गतिमे चला जाता है। आचार्य कहते है कि सच्चा सुख तो आत्मा मे है। यह अज्ञानी मोही जीव इस आत्माकी विभूतिसे शून्य रहता हुआ घोर सकटो मे पड जाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थोंका मोह करना मूढता है। ज्ञानीको उनसे मोह न करके अपना लक्ष्य आत्मोन्नतिमे रखना उचित है।

अनित्यपचाशत्मे श्री पद्मनदि मुनि कहते हैं--

अभोबुद्बुदसन्निभा तनुरिय श्रीरिन्द्रजालोपमा।
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशा कातार्थपुत्रादय ॥
सौख्य वैषयिक सदैव तरल मत्तागनापागवत्।
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन कि कि मुदा।४।

भावार्थ-- यह शरीर पानीके बुदबुदेके समान क्षणभङ्गुर है

पको (ननु कथ श्वेद) क्यो शोक करना चाहिये ? इस जगतमे (इति) ऐसा (ज्ञात्वा) जानकर (अनुदिन) प्रतिदिन (विश्लेषशोक-व्यथा) वाहरी वस्तुओके वियोगके शोकके कष्टको (विमुच्यताम्) छोड देना ही उचित है।

भावार्थ--यहापर आचार्यने स्त्री पुत्रआदिके मोहके नाशका व उनके शोकके नाशका उपाय वताया है कि बुद्धिमान प्राणीको यह विचारना उचित है कि यह शरीर जिसका इस अशुद्ध संसारी जीवके साथ अनादिकालका सम्वन्ध है वह भी एक भवमे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त रहता है, यद्यपि यह फिर कर्मोके उदयसे प्राप्त होजाता है तौभी फिर मरण होनेपर छूट जाता है। हम जो चाहे कि इस शरीरका सम्वध न हो तो हमारे मनकी वात नही है। कर्मोके उदयसे वारवार इनका सम्वन्ध होता ही रहता है और छूटता ही रहता है। जव कर्मोका वध विलकुल नही रहता है तव तो सदाके लिये शरीरका सम्वन्ध छूट जाता है। कहनेका मतलव यह है कि वह शरीर जिसके साथ यह जीव परस्पर दूध पानीकी तरह मिला हुआ है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्वन्ध किये है, वे भी जव छूट जाते हैं तवस्त्री, पुत्र, मित्रादि व घर धन राज्य आदि जो विलकुल वाहरी पदार्थ हैं उनका सम्वन्ध क्यो नही छूटेगा ? जो वस्तु अपनी नही है उसके चले जानेका क्या खेद? इसलिये बुद्धिमानोको कभी भी अपने किसी माता पिता, भाई वन्धु, पुत्र व मित्रके वियोगपर या धनके चले जानेपर शोक नही करना चाहिये। इनका सम्बन्ध जो कुछ है भी वह शरीरके साथ है जव यह शरीर ही छूटेगा तव इनके छूटनेका क्या विचार ? इसलिये पर पदार्थोके सयोग में हर्ष व वियोगमे शोक न करना ही बुद्धिमानी है।

श्री पद्मनदि मुनि अनित्यपचाशत् मे कहते है —

तडिदिव चलमेतत् पुत्रदारादिसर्वं ।
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भि ॥
स्थितिजननविनाश नोष्णतेवानलस्य ।
व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नून ॥ २८॥

भावार्थ—ये पुत्र स्त्री आदि सर्व पदार्थ बिजलीके चमत्कार के समान चचल हैं। इनमेसे किसीके नाश होनेपर बुद्धिमानोको शोक क्यो करना चाहिये, अर्थात् शोक कभी न करना चाहिये। क्योकि निश्चयसे सर्व जगतके पदार्थोका यह स्वभाव है कि उनमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है। जैसे अग्निमे उष्णता कभी नही जाती वैसे उत्पत्ति, नाश व स्थितिपना कभी नही मिटता। हरएक पदार्थ मूलपनेसे स्थिर रहता है परन्तु अवस्थाओकी अपेक्षा नाश होता है और जन्मता है। पुरानी अवस्था मिटती व नई अवस्था पैदा होती है। जगतमे सब अवस्थाए ही दिख-लाई पडती है इनका अवश्य नाश होगा इसलिए वस्तुस्वभावमे शोक करना मूर्खता है। जो किसीका मरण हुआ है उसका अर्थ यह है कि उसका जन्म भी हुआ है तथा जिसमे मरण व जन्म हुआ है वह वस्तु स्थिर भी है। जैसे कोई मानव मरकर कुत्ता जन्मा। तब मानव जन्मका नाश हुआ, कुत्ते के जन्मका उत्पाद हुआ परन्तु वह जीव वही है, जो मानवमे था वही कुत्ते मे है। ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानीको सदा समताभाव रखना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

है चिरकाल कुमङ्गति जिनकी जीव शरीर प्रसिद्ध जगतमे ।
साथ रहें नित विरह न होवे तदपि छुटत है दोउ जगतमे ॥
तो फिर पुत्र धनादि बाह्य ये छुटत होत किम खेद जगतमे ।
बुद्धिमान इम जान सदा ही शोक करो नहि कोय जगतमे ॥२६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि पेटकी चिंता बडी दु खदाई है वह चिन्ता धर्म, यश, सुखका नाश करती है—

तिर्यंचस्तृणपर्णलब्धधृतय सृष्टा स्थलीशायिन ।
चिंतानन्तरलब्धभोगविभया देवा सम भोगिभि. ॥
मर्त्याना विधिना विरुद्धमनसा वृत्ति कृता सा पुन ।
कष्टं धर्मयश सुखानि सहसा या सूदते चिंतिता ॥२७॥

अन्वयार्थ—(विरुद्धमतसा) विपरीत मनवाले (विधिना) कर्मरूपी ब्रह्माने (तिर्यंच) पशुओको (तृणपेर्णलब्धधृतय) तिनके और पत्तोको खाकर सतोप रखनेवाले व(स्थलीशायिन) जमीनपर शयन करनेवाले तथा (भोगिभि सह) भोगभूमियोंके साथ २ (देवा । देवोको (चिन्तानन्तरलब्धभोगविभवा) चिन्ता करते ही भोगोको भोगनेवाले व ऐश्वर्यवान (सृष्टा)रचे(पुन) फिर (सर्त्यांना) कर्मभूमिके मनुष्योंकी (सा वृत्ति) ऐसी आजीविकाकी पद्धति (कृत) करदी (या चिंतिता) की जिसकी चिंता (सहसा) शीघ्र ही (धर्मयश सुखानि) धर्म, यश तथा सुखोंको (सूदते) नाश कर देती है। (कष्ट) यह वडे दु खकी बात है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि हम मनुष्यो को अपना पेट पालनेके लिए भी वहुत कष्ट सहना पडता है।

सताते है तब उनका यश भी जाता रहता है और सच्चे आत्मीक सुखकी तो उनको गंध भी नही आती है। वे यदि आत्मीक तत्त्वपर लक्ष्य देते तो इस नरभवमे सच्चे सुखको पासकते थे परन्तु वे अंधे होकर इस रत्नको जो अपने ही पास है गमा बैठते है। उनको रात दिन भोगोकी व पैसे कमानेकी चिंता सताया करती है। कही खर्च अधिक कर डाला व आमद कम हुई तो कर्जदार होकर घोर चिंताकी दाहमे जलते रहकर शीघ्र प्राणरहित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनके ऐसा विपरीत कार्यका उदय है कि जिससे वे महादुःखी रहते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि ऐसे कष्टमय जीवनको पारकरके इस कर्म-भूमिके मनुष्य सम्बन्धी भोगोमें लिप्त होना मूर्खता है। इस शरीरमे जहाँ भोगोपभोगके लिए इतने कष्ट होते है वहाँ इस तनसे संयमका पालन हो सकता है जिसको न पशु न भोगभूमियाँ और न देव पालन कर सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मानवोको उचित है कि संतोषपूर्वक व न्यायपूर्वक जीवन बितावे और वैराग्य पानेपर साधु होजावे और अपने सच्चे सुखको पाते हुए कर्मोके नाशका उद्यम करे जिससे कभी न कभी मुक्ति के स्वामी होजावे। मनुष्य-जन्मको सफल करना यही बुद्धिमानी है। श्री अमितगति, सुभाषितरत्नसंदोहमे कहते हैं—

जन्मक्षेत्रे पवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे ।
देहेव्याधादिसिन्धु प्रपतनजलधी पापपानीयकुंभे ॥
कुर्वाणो वन्धुवुद्धि विविधमलभृते यासि रे जीव नाशं ।
सञ्चिन्त्यैव शरीरे कुरु हत ममतां धर्मकर्माणि नित्यम् ॥४०५

भावार्थ—इस पवित्र जन्मके क्षेत्रमे आकर तू अति चचल, दोषरूपी सर्पोसे भरे हुए रोगादि रूपी समुद्रमे गिरनेवाले, पाप

रूपी जालीमें पूर्ण घड़े के समान तथा नाना प्रकार मलसे भरे हुए इस देह से अपनेपने की बुद्धि करके हे आत्मन्! तू नाशको प्राप्त होगा ऐसा विचार करके इस शरीरसे ममता टाल दे और धर्मके कार्योंको कर।

मूल श्लोकानुसार छन्द मालती। 27

कर्म विधाताने पशुओंको भानवान भोगी बनलायी ।
देव और नर भोग वस्तोंको बिना करने भोग कराई ॥
मर्त्यलोकके मानव पापी वृत्ति जिन्होंने दुखप्रद पाई ।
धर्म कीर्ति अरु सुख विघटावे यह काहे विपरीत रचाई ॥२७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी जीवको शान्तसुख की इच्छा नहीं होती। (मालिनीवृत्त)

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमध्यं ।
भ्रमसि धरणिपृष्ठे लिप्स्यसे स्वान्तलक्ष्मीम् ॥
अभिलषसि विशुद्धां व्यापिनीं कीर्तिकान्तां ।
प्रशमसुखसमुद्राब्धिं विगाहसे त्वं न जातु ॥२८॥

अन्वयार्थ—(अरे) हे मन! तू कभी तो (दिविजयोषा) देवोंकी स्त्रियोंको (भजसि) भोगना चाहता है (पातालं यासि) कभी तू पातालमें चला जाता है (धरणिपृष्ठे भ्रमसि) कभी पृथ्वीके ऊपर घूमता है (स्वान्तलक्ष्मीम्) कभी मनके अनुकूल धनको (लिप्स्यसे) प्राप्त करना चाहता है, कभी (विशुद्धां) अति उज्ज्वल (व्यापिनीं) जगतमें फैलनेवाली (कीर्तिकान्तां) कीर्तिरूपी स्त्रीको (अभिलषसि) चाहता है परन्तु (त्वं) तू (जातु) कभी भी (प्रशमसुखाब्धिं) शान्तिमय सुख समुद्रमें (न गाहसे) नहाना नहीं चाहता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने दिखाया है कि इन्द्रियोके भोगोंके करनेसे सुख मिलेगा इस भ्रम बुद्धिमे उलझा हुआ यह मन नाना प्रकारकी कल्पनाए किया करता है। कभी तो चाहता है कि स्वर्गमे जाकर पैदा हूँ और वहाँ वहुत सुदर देवियोंके साथ क्रीडा करू, कभी भवनवासीके भवनोका ख्याल कर लेता है जो पाताललोकमे रहते हैं—उनके समान घूमना व सुखी रहना चाहना है, कभी पृथ्वीमे अनेक देश, नगर, ग्राम, पर्वत, नदी, वाजार, गली आदिकी सैर करना चाहना है। अथवा यह मन ऐसा मूर्ख है कि यह मनसे ही देवियोको भोग लेता है, मनसे ही पातालमे घूम आता है, मनसे ही सर्व पृथ्वीकी सैर कर लेता है, तथा यह चाहता है कि मनके अनुकूल लक्ष्मी प्राप्त हो तथा जगतमे मेरा ऐसा यश फैले कि मैं प्रसिद्ध हो जाऊ। इस प्रकार की कल्पनाओको करता रहता है। इन कल्पनाओके कारण अपनी इच्छाओको वहुत वढा लेता है। तव उनको पूर्तिके लिए आकुलता करता है, मनको रात दिन चितामे ही फस जाना पडता है। जिन पदार्थोको चाहता है और वे प्राप्त नही है, उनके लिये तो मिलानेका उद्यम करते हुए चिंतित रहता है, जो पदार्थ है उनके वने रहनेकी चिंता करता है, जो पदार्थ थे और उनका किसी कारणसे वियोग होगया, उनके फिर मिलने की आशासे चिंता करता है।

इसपर निरतर अशातिके दाहमे जला करना है और वह सुखशातिका समुद्र जो अपने ही पास है, जो अपने ही आत्माका स्वभाव है उसकी तरफ निगाह उठाकर भी नही देखता है। यदि एक दफे भी उस अनुपम आत्मिक सुखका स्वाद लेले तो फिर इसकी सारी आकुलता मिटानेका साधन इसको मिल

लप्तु मन्मथमंथरा सुरवधूर्नाक चनीस्कद्यसे ।
रे भ्रान्त्या ह्यमृतोपम जिनवचस्त्व नापनीपद्यसे ॥२९॥

अन्वयार्थ—(रे) रे मन (त्व) तू कभी तो (अध) पातालमे जाकर (भोगिनितविनीसुख) नागकुमारी देवियोके सुखको (भोक्तु) भोगनेके लिये (चिता) चिता (पनीपतस्यसे) करता रहता है, कभी (अनन्यलभ्यविभव) दूसरेके पास प्राप्त न होसके ऐसी विभूतिवाले (राज्य) चक्रवर्तीकि राज्यको (प्राप्तु) प्राप्त करनेके लिये (क्षोणी) इन पृथ्वीपर (चनीकस्यसे) आनेकी इच्छा किया करता है तथा कभी (मन्मथमथरा) कामसे उन्मत्त ऐसी सुरवधू) स्वर्गवासी देवोकी देवागनाओको (लुप्तु) पानेके लिये (नाक) स्वर्गमे (चनीस्कद्यसे) जानेको उत्कठा किया करता है (भ्रान्त्या) इस भ्रममे पडकर (हि) असलमे (ह्यमृतोपम) अमृतके समान सुख दाई (जिन वच) जिनवचनको (नापनीपद्यसे) नही प्राप्त करता है अर्थात् जिनवाणीके आनदके लेनेमे दूर २ भागता है यही खेद है।

भावार्थ—यहा आचार्य फिर मनको उल्हना देते हैं कि तू वडा मूर्ख है जो रातदिन इद्रियोके विषयोमे लम्पटी रहता है और यही चाहना है कि मैं भवनवासी देवोमे पैदा होकर नागकुमारी स्त्रियोका भोग करु व स्वर्गमे जाकर स्वर्गकी महा मनोहर स्त्रियोके साथ काम चेष्टा करु व नरलोकमे चक्रवर्तीके समान विभूति पाकर छानवे हजार स्त्रियोका एक साथ अपनी विक्रियाके वलसे भोग करु । खूव पाचो इद्रियोके विषयोको भोगू इस चितामे रहता हुआ व चाहकी दाहमे जलता हुआ कभी भी सुखी नही होता है। एक तो चाह करने मात्रसे इद्रियोके सुख मिलते नही। यदि मिल भी जाते हैं तो उनके भोगोसे तृप्ति होती नही और अधिक भोगनेकी चाह बढ जाती

है। तूने अज्ञानी होरहा है, ऐसा समझना है कि इंद्रियोंके भोग मे ही सुख है। तूने कभी अपना ध्यान जिनेन्द्र भगवानकी अमृतमई वाणीके सुननेकी तरफ नहीं दिया। यह भगवानकी वाणी हमको सच्चा मार्ग बताती है। यह हमारा यह भ्रम मिटाती है कि संसारके विषयभोगोमे सुख है। यह आत्माके भीतर भरे हुए सुखसमुद्रका दर्शन कराती है और उसीमे गोता लगानेकी व उसीके शांत जलको पीनेकी प्रेरणा करती है। जिन्होंने अनेकांतमयी श्रीजिनवाणीको समझा है। वे सम्यग्दृष्टी होकर सदा सुखी होजाते हैं। भेदज्ञानकी वह दवा ज्ञानियोंको मिल जाती है जिसके प्रतापसे उनकी आत्माको उन्नति करनेका मार्ग मिलता है। इसलिये कहते हैं कि—हे मन ! तू बावलापना छोड और एकाग्र होकर जिवाणीका अभ्यास कर। यह सूर्यके समान पदार्थोंको यथार्थ दिखानेवाली है और सर्व दुःखोंसे छुडानेवाली है। यह संसारके रोगको शमन करके आत्माको स्वाधीन बनानेवाली है। श्रीपद्मनंदि मुनि सरस्वतीकी स्तुतिमे कहते हैं—

विधायमानं प्रथमं त्वदाश्रयम् ।
श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षय ॥
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते ।
यदीप्सितं वस्तुलभेत मानव ॥

भावार्थ - महान् मुनिजन पहले तेरा ही आश्रय लेते हैं फिर मोक्षपदमे जाते हैं जैसे अंधेरे घरमे दीपकके सहारे ही मानवको इच्छित वस्तु मिल सकती है। वास्तवमे परम कल्याणकारी जिनवाणीका अभ्यस ही परमोपकारी है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

रे मन तू चाहे नागिनी सुक्ख भोगू ।
स्वर्गोमे जाकर देवनारी सु भोगू ॥
होकर चक्री मै राज्य सुख सार होवे ।
भ्रममे भूला जिन वचन अमृत न जोवे ॥२९॥

उत्थानिका— फिर भी कहते है कि हे मन ! तू ससार वनमे भ्रमण मत कर—

भीमे मन्मथलुब्धके वहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे ।
रौद्रारम्भहृषीकपाशिकगणे भृज्जद्वतैणद्विपि ? ॥
मा त्व चित्तकुरग ! जन्मगहने जातुभ्रमी ईश्वर ।
प्राप्तु ब्रह्मपद दुरापमपरैर्यद्यस्ति वाछा तव ॥३०॥

अन्वयार्थ —(ईश्वरचित्तकुरग)हे समर्थ मनरूप हिरण(यदि) (तव वाछा) तेरी इच्छा (अपरै) दूसरोसे (दुरापम्) कठिनतासे प्राप्त होने योग्य ऐसे(ब्रह्मपद आत्मीक मोक्षपदको(प्राप्तु) पानेकी हो तो तू(मन्मथलुब्धके) कामदेवरूपी पारधीसे वासित (वहुविधव्याधिदीर्घद्रुमे)नानाप्रकार रोग व मानसिक कष्टोंके बडे २ वृक्षोसे भरे हुए(रौद्रारम्भहृषीकपाशिकगणे)तथा भयानक आरभ करानेवाले इद्रियरूपी भीलगणोसे पूरित तथा(ऐणद्विषि) मनरूपी हिरणके शत्रुओंसे युक्त भयानक(जन्मगहने)ससाररूपी वनमे(वत)व्यर्थ ही (त्व तू (जातु मा भ्रमी कभी न भ्रमण कर।

भावार्थ-- आचार्य फिर भी अपने मनको समझाते हैं कि— हे मन ! तू वडा वावला है, तू विश्राति नही भजता, तू चाहता है कि मुझे शात आत्मानदरूपी जल मिल जावे जिससे तेरी अनादिकी तृष्णारूपी प्याम वुझे । परन्तु तू उस ससाररूपी वनका

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

मन हिरण न भ्रम तू भीम संसार वन है।
जह काम शिकारी अधि तरु व्याधि घन है॥
जह इन्द्रिय दुष्ट भील पीडा करत हैं।
यदि दुर्गम शिवपदकी चाह तेरे वसत है॥३०॥

उत्थानिका—आगे श्री जिनेन्द्रसे प्रार्थना करते हैं कि मुझे उत्तम २ गुणोकी प्राप्ति होवे—

(हरिणी वृत्त)

व्यसननिहतिर्ज्ञानोद्युक्तिर्गुणोज्ज्वलसंगति।
करणविजितिर्जन्मत्रस्ति कपायनिराकृति॥
जिनमतरति संगत्यक्तिस्तपश्चरणाध्वनि।
तरितुमनसो जन्माभोधि भवतु जिनेन्द्र! मे॥३१॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र भगवान! (जन्मांभोधिं) ससार समुद्रको (तरितुमनस) तिरनेकी मनशा रखनेवाले (मे) मेरेको (तपश्चरणध्वनि) तपके साधनके मार्गमे (व्यसननिहृति) द्यूत रमण आदि सातो व्यसनोका नाश (ज्ञानाद्युक्ति) ज्ञानकी उन्नति (गुणज्ज्वलसगति) निर्मल गुणवालोकी सगति (करण-विजित) इद्रियोकी विजय (जन्मत्रस्ति) ससारसे भय (कषाय-निराकृति) क्रोधादि कषायोका त्याग इतनी बाते (भवतु प्राप्त होवे।

भावार्थ—यहापर आचार्य कहते हैं कि जो भव्य जीव ससारसमुद्रसे पार होना चाहता है उसको उन दोषोको दूर करनेकी व उन गुणोके प्राप्त करनेकी भावना करनी चाहिये जिनके कारण सुखसे भवसागर पार कर लिया जावे। पहली बात

यह है कि इस मनको द्यूत रमण, माँसाहार, मद्यपान, वेश्यासक्ति परस्त्री रमन, शिकार और चोरी व ऐसे ही और भी व्यसनोका सामना न पडे। जिन बुरी आदतोमे पडनेसे हमारा इह लोक और परलोक दोनो बिगडते हैं वे सब आदते व्यसनोके भीतर शामिल हैं। हरएक मानवको जो अपना हित करना चाहता है यह आवश्यक है कि खेतके कङ्कड पत्थरकी तरह व्यसनोको दूर फेंक देवे। जिनका मन किसी व्यसनमे उलझा होता है उनके मनमे आत्मज्ञान नही बस सकता है और आत्म--ज्ञानके बिना अपना हित नही हो सकता है। इसलिये दूसरी बात यह चाहता है कि ज्ञानकी उन्नति हो। ज्ञानके पीछे चरित्र बढाना चाहिये। इसलिये तीसरी बात यह चाही गई है कि पवित्र गुणधारी व्यक्तियोकी सगति रहे क्योकि सच्चारित्रवान पुरुषोके आचरण का बडा भारी असर बुद्धिपर पडता है। फिर चारित्र जो वीतराग भाव है उसके कारण जो मुख्य उपाय हैं उनकी भावना की जाती है इसलिये चौथी बात यह है कि इंद्रियोका विजय हो। वास्तवमे जितेन्द्रिय मानव हो सतोष व शाँतभावको पासकता है। बिना इंद्रियोंको अपने आधीन किये न श्रावक न मुनि कोइ भी अपने २ योग्य आचरणको नही पाल सकते हैं। पाँचवी बात यह चाही गई है कि ससारसे भय हो—क्योकि जिसको यह भय होगा कि मेरा आत्मा इस जन्म मरणरूपी भयभीत ससारवनमे न भटके वही मोक्ष होनेका चारित्र पालेगा। छठीबात यह है कि कषायोको दूर किया जावे। क्यकि क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो के आधीन ही प्राणी आकुलता के फदमे फस जाता है तथा जितना २ कषायोका दमन होता है उतना वीतराग भाव प्रगट होत रहता है। कषायोके विजयमे ही जिनमत जो वीतराग विज्ञानमय है व स्वानुभवरूप

है उसमे प्रीति होती है। इसलिए सातमी बात यह चाही गई है। मुक्तिका उपाय मुनिका चारित्र है इसलिये आठमी बात चाही गई है कि परिग्रहका त्याग करू। मुनि होकर १२ प्रकार तप करना चाहिये। क्योकि तपके विना कर्मोंकी निर्जरा नही होसकती है। इसमे भी मुख्य तप ध्यान है, ध्यानहीसे केवल ज्ञान होता है, ध्यानहीसे निर्वाण होता है, ध्यानहीका वेग ध्यानीको ससारसमुद्रसे पार करके शिवद्वीपमे पहुँचा देता है। इसलिये तप करनेके साधनरूप आठ बातो की भावना भाई गई है। वास्तवमे जो तपस्वी इन आठ गुणोसे अलकृत होता है वही सिद्ध होकर सम्यक्त आदि आठ गुणोंसे विभूपित होजाता है। ध्यानहीसे मुक्तिकी सिद्धि होती है। उस ध्यानके लिये श्रीशुभ चन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

विरज्य कामभोगेपु विमुच्य वपुपि स्पृहाम् ।
निर्ममत्व यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥

भावार्थ—जब काम भोगोसे विरक्त होकर शरीरमे भी अभिलाषाको छोडा जाता है तब ममता रहितपना प्राप्त होता है तब ही ध्यानी होसकता है अन्यथा नही।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

व्यसन रहे दूर ज्ञान उन्नति सुसगति ।
करण विजय भव भय क्रोध मानादि निकृति ॥
जिनमत रुचि सग त्याग श्री जिनजु होवे ।
भवसागर तरना हेतु तप मोहि होवे ॥३१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ससार-वनमे वास करना दु:खदायक है—

बेखबर रहते हैं वश शीघ्र ही कालके गालमे चबाए जाते हैं, ऐसे ससार वनमे सुखशाति कैसे मिल सकती है ? बुद्धिमान प्राणीको तो इससे निकलना ही ठीक है।

शुभाषितरत्नसदोहमे श्री अमितगति महाराज कहते हैं--

मृत्युव्याघ्रभयकराननगत भीत जराव्याधत--
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदु खतरुमत्ससारकान्तारगम्।
क शक्नोति शरीरिणम् त्रिभुवने पातु नितान्तातुर
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकर जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ--जो प्राणी तीव्र रोगोके अपार दु खोमे भरे हुए ससारवनमे हो व बुढापारूपी शिकारीसे भयभीत रहता हो व भयभीतरूपी वाघके भयकर मुखमे प्राप्त हो उस महान् आकुलतामे फसे हुए प्राणीको तीन भुवनमे जन्मजरा मरणको नाश करनेवाले जिनधर्मके सिवाय और कोई बचानेको समर्थ नही है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

भव वन भयकारी दु ख अग्नि प्रचारी।
विपति तरु भराई तृण विपय स्वादकारी॥
जन मृग बहु घूमे जन्म अरु मृत्यु दु खमे।
हिंसक पशु खावे हो कथ शातिसुखमे।

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि बुद्धिमानोको ससारमे लिप्त न होकर आत्मकार्य कर लेना चाहिए।

भुजगप्रयात छन्द।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा।
न काता न माता न भृत्या न भूपा॥

तीव्रत्रासप्रदायि प्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते ।

दु खोर्वीजप्रपचे भवगहनवनेऽनेकयोऽन्यद्विरौद्रे ॥

भ्राम्यन्नप्रापि नृत्व कथमपि गमत कर्मणोदुष्कृतस्य ।

नो चेद्धर्मं करोपि स्थिरपरमधिया वचितस्त्व तदात्मन्।४२४

भावार्थ—यह ससारवन महाभयानक है जहा तीव्र दु खको देनेवाले जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवोके समूह विचर रहे हैं, व जहा दु खोके कारणोका ही जाल है, ऐसे वनमे घूमते हुए पाप कर्मोंके कम होनेसे बहुत ही कठिनतासे नरजन्म पाया है ऐसी स्थितिमे हे आत्मन् ! यदि तू थिर बुद्धि करके धर्मका साधन न करेगा तो तू वास्तवमे यहा ठगा गया है, ऐसा माना जायगा ।

मूल श्लोकानुसार भुजगप्रयात छन्द ।

जवे मर्ण आवे न कोई बचावे । 53

न माता न काता न सुत इन्द्र आवे ॥

न वैद्या न विप्रा न राजा न चाकर ।

यही जान बुधजन निजातम करमकर ॥३३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरको क्षणभगुर जान कर मोहका त्याग करना चाहिये ।

विचित्रै रुपायै सदा पाल्यमान ।

स्वकीयो न देह सम यत्र याति ॥

कथ बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र ।

प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोह ॥३४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ससारमे (विचित्रै) नानाप्रका

(उपायैः) उपायोंसे (सदा) नित्य (पाल्यमान) पालन किया हुआ (स्वकीय) अपना ही (देह) शरीर (सम) साथ (न याति) नहीं जाता है (तत्र) वहाँ (कथ) किस तरह (बाह्यभूतानि) बाहर ही बाहर रहनेवाली (वित्तानि) धन आदि सम्पत्तियाँ साथ जासकती हैं (इति) ऐसा (प्रबुध्य) समझकर (कुत्रापि) किसी भी पदार्थमें व कहीं भी (मोह) मोहभाव (न कृत्य) न करना चाहिये।

भावार्थ—यहा आचार्य फिर भी समझाते हैं कि हे भव्य जीव! तू क्यों परपदार्थके मोहमें पागल होरहा है। स्त्री, पुत्र, मित्र, माता, पिता, राजा, प्रजा, नौकर, चाकर ये चेतन पदार्थ तथा घर, वस्त्र, वासन आदि अचेतन पदार्थ ये सब मात्र इस शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं। जब शरीर ही इस जीवसे भिन्न है तब ये पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं। जगत्के सर्व ही पदार्थोंकी सत्ता मेरी आत्माकी सत्तासे भिन्न है। यह भेद विज्ञान एक ज्ञानीके हृदयमें रहना योग्य है। हरएक द्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है तथा पर पदार्थोंके द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मामें आत्माका द्रव्य जो अनंत गुणोंका समुदायरूप अखंड पिंड है सो तो उसका अपना द्रव्य है। जितने असंख्यात प्रदेशोंको लिए हुए यह आत्मा है वह आत्माका क्षेत्र है, इस आत्माका जो अवस्थाविशेष या पर्याय है सो उसका काल है, आत्माके जो शुद्ध गुण हैं वह इसका भाव है। जब कि आत्माके सिवाय अन्य सर्व आत्माओंके व अन्य पदार्थोंके कोई द्रव्यक्षेत्र काल भाव इस आत्मामें नहीं हैं इसलिये उन सबका इस आत्मामें नास्तित्व या अभाव है। इसतरह स्याद्वाद नयके द्वारा जो अपने आत्मामें एक ही समयमें अस्तित्व नास्तित्वको व भावाभावको समझ लेता है वही मात्र एक अपने स्वरूपको अपना मानता है

और सबको अपनेसे भिन्न पर जानता है। जब कोई परवस्तु अपने आत्माकी नहीं है तब परवस्तुसे मोह करना वास्तवमें नादानी है। सुभाषितरत्नसदेहमे यही आचार्य कहते है—

न ससारे किंचित् स्थिरमिह निज वास्ति सकले ।
विमुच्यार्च्यं रत्नत्रितयमनघ मुक्तिजनकम् ॥
अहो मोहार्ताना तदपि विरतिर्नास्ति भक्त-
स्ततो मोक्षोपायाद्विमुखमनसाँ सौख्यकुशलम् ॥३४०।

भावार्थ—इस सपूर्ण ससारमे न कोई वस्तु स्थिर है न अपनी है सिवाय पूज्यनीय निर्मल शक्तिके उत्पन्न करनेवाले रत्नत्रय धर्मके। बडे खेदकी बात है कि मोहसे दु खी जीवोकी विरक्ति तब भी ससारसे नही होती है तब फिर जो मोक्षके उपायसे विरुद्ध मनवाले हैं उनको सच्चा सुख नही हो सकता।

मूलश्लोकानुसार भुजगप्रयात छन्द ।

यतन बहु कराए सदा पालनेको ।
सुनिज देह भी साथ नहि चालनेको ।
धनादिक वहिर्वस्तु किम साथ होवे ।
सुधी जानकर कौनसे मोह बोवे ॥३४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानीको इष्ट व अनिष्ट पदार्थोमें समताभाव रखना चाहिये।

मंदाक्रांता वृत्त

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने काँचने लोष्ठवर्गे ।
सौख्ये दु खे शुनि नरवरे सगमे यो वियोगे ॥
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढ ।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धि करस्था ॥३५॥

अन्वयार्थ—(य)जो कोई (शिष्टे दुष्टे) सज्जनमे या दुर्जन मे (सदसि विपिने) सभामे या वनमे (काँचने लोष्ठवर्गे) सुवर्णमे या ककड पत्थरमे (सौख्ये दु खे) सुखमे व दु खमे (शुनि नर-वरे) कुत्ते मे व श्रेष्ठ मनुष्यमे (सगमे वियोगे) इष्टके सयोगमे या वियोगमे (सदृग) समानभाव रखता हुआ (शश्वत्) सदाही (वीर) धीर तथा (द्वेषरागव्यपो) रागद्वेष रहित वीतरागी (भवति) रहता है (तस्य) उस (प्रथितमहस) प्रसिद्ध तेजस्वी के पास (सिद्धि) मुक्ति (प्रौढा स्त्री इव) युवती स्त्रीके समान (करस्था) हाथमे ही आजाती है ।

भावार्थ—यहा आचार्य कहते है कि जैसे वीरधीर तेजस्वी पुरुषको युवती स्त्री शीघ्र वर लेती है व उसके निकट आजाती उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्री उस महान तेजस्वी पुरुषको शीघ्रही प्राप्त होजाती है जो समताभावके अभ्यास करनेवाले है। जिन्होने ऐसा वैराग्य अपने भीतर बढा लिया है कि यदि कोई सज्जन मिलें तो उनसे राग नही करते दुर्जन कष्ट देवें तो उनसे द्वेष नही करते । यदि कभी मानवोकी सभामे जानेका काम पड गया तो उसमे प्रसन्न नही होते और यदि जगलमे अकेले रहना हुआ तो कुछ खेद नही मानते है । जिनके आगे कोई रत्न सुवर्णोकि ढेर करदे तो उससे लोभ नही करते और यदि ककड पत्थर रखदे तो उससे द्वेष नही करते । यदि साताकारी पदार्थो का सम्बध मिले तो हम सुखी हुए ऐसी कल्पना नही करते और यदि असाताकारी सम्बध प्राप्त होतोहम दुखीहुए ऐसी मान्यता नही करते । यदि सामने कुत्ता आकर बैठ जावे तो उसमे घृणा नही करते और यदि कोई चक्रवर्ती राजा आजावे तो उससे मोह नही करते । उनको यदि सुहावने शिष्यवर्गादिका सम्बध हो तो राग नही करते और यदि असुहावने चेतन अचेतन पदार्थोका

सम्बध हो नो द्वेष नही करते। ऐसे साधु महात्मा जो जगतको एकमात्र कर्मोका नाटक समझते हैं, जिनकी दृष्टि निश्चयनय रूप रहती है, जो जगतके नानाप्रकार जीवके भेषोमे व अवस्था-विशेषोमे भी शुद्ध द्रव्यको उसके अपने असली स्वरूपमे देखते हैं, उनके सामने कोई छोटा या बडा जीव है ही नही। सब ही जीव शुद्ध सिद्ध समान दिख रहे हैं, वहा राग और द्वेष किसके साथ हो। जितने अजीव पदार्थ हैं वे अलग दिखते हैं उनसे कोई राग द्वेषका सम्बध नही। इस तरह शुद्ध निश्चयनयके आलम्बनसे जो साधु व ज्ञानी महात्मा निरतर विचारते रहते हैं उनका ससाररूपी स्त्रीसे राग घटता जाता है और मुक्तिरूपी परम मनोहर अनुपम स्त्रीसे राग बढता जाता है। वह मुक्तिरूपी स्त्री जब जान लेती है कि मेरा उपासक बडा धीरवीर है, उपसर्गोंके पडनेपर भी आत्मध्यानसे व मेरी आशक्तिसे हटता नही है तब ही वह स्वयं आकर इसको अपना लेती है और यह पुरुषार्थी साहसी वीर सदाके लिये मुक्ति धाममे जाकर आनदामृतका भोग किया करता है।

श्री पद्मनद मुनि सद्बोध चद्रोदयमे कहते हैं—

कर्मभिन्नमनिशस्वतोखिलम् पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदु खकल्पना।२०।

भावार्थ—जो निश्चयनयके जाननेवाले योगी हैं वे निर्मल ज्ञानदृष्टिसे अपने आत्मासे सर्व कर्मोको भिन्न देखते हैं तब उनके भीतर कर्मोंके निमित्तसे जो सुख दु ख होता भी है उसमे यह भाव नही करते कि मैं सुखी हुआ या मैं दु खी हुआ। वे निरतर समताभावका अभ्यास करते हैं—

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द । ३५

रखते समभाव सज्जनो दुर्जनोंमें ।
कंचन कंकडमें, राजग्रह वा वनोंमें ।।
सुख दुःख पशु नरमें, सगमें वा विरहमें ।
युवति सम स्वसिद्धी, होत वश वीरनरमें ।।३५।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी साधु ही मोक्षके अधिकारी होते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अभ्यस्ताक्षकपायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रिया ।
बाह्याभ्यंतरसंगमागविमुखा कृत्वात्मवश्यं मनः ।।
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ।३६

अन्वयार्थ—(ये) जो (अभ्यस्ताक्षकपायवैरिविजया) इंद्रिय विषय और कषाय वैरियोंके जीतनेका अभ्यास करनेवाले हैं, (विध्वस्तलोकक्रिया) जिन्होंने लौकिक क्रियाकांड आरंभादिक सब त्याग दिया है (बाह्याभ्यन्तरसंगमागविमुखा) जो बाहरी और भीतरी परिग्रहके अंश मात्रसे भी वैरागी हैं और जो (मनः आत्मवश्यं कृत्वा) मनको अपने आधीन करके (भवभोगदेहविषयं) संसार, भोग व शरीर सम्बन्धी (श्रेष्ठं) उत्तम (वैराग्यं) वैराग्यको (अध्यासते) प्राप्त हुए हैं (ते बुधाः) वे ज्ञानी साधु (समाधिं) समाधि या आत्मीक तन्मयताको (बुद्ध्वा) अनुभव करके (विक-

लिला)सर्व कर्म रहित होकर(शिवालय)मोक्षधामको (गच्छ-न्ति) जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने वता दिया है कि मोक्षका उपाय अभेदरत्नत्रय समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जबतक शुक्लध्यानकी अग्नि नही जलती है तबतक न मोहका नाश होता है और न घातिया कर्मोका नाश होता है और न यह अघातिया कर्मोसे छूटकर सिद्धपद पासकता है। उस शुक्लध्यान की सिद्धि उसी महात्माको होसकती है जो शरीरके खड खड किये जानेपर भी ममता न लावे व वेदनासे त्रसित न हो। जिसकीममता विलकुल शरीरमे हट गई हो जो सर्दी गर्मी डास मच्छरकी वाधाए सह सके। इसलिये साधुको वह सव कुछ वस्त्र त्याग देना पडता है जो उसने स्वाभाविक शरीरकी अवस्थाको ढकनेके लिये धारण कर रक्खे थे। यहांपर आचार्यने मुक्तिके योग्य जो पात्र हो सकते हैं उन साधुओका वर्णन किया है। पहली जरूरी वात तो यह वताई है कि उन्होने इद्रियोकी इच्छाओको जीतनेका व क्रोधादि कषायोंके दमनका भलेप्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योकि ये इद्रिये ही प्राणीको कुमार्गमे डाल देती हैं व कर्मोका वध कषायोमें ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टीने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावका निश्चय कर लिया है वही आत्मीक सुखके मुकावलेमे इद्रिय सुखको तुच्छ जानता है, इसलिये वही इद्रियोंका जीतने वाला होसकता है जिसने अपने आत्माका स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लिया है, वही कषायोके जीतनेका पुरुषार्थ करेगा। दूसरी वात साधुमे यह जरूरी है कि उसने सव लोकव्यवहार छोड दिये हो, अनेक प्रकार व्यापारके आरम्भ करके पैसा कमाना मकान मठ वनवाना, खेती कराना, शरीर रक्षार्थ सामान जोडना,

रसोई बनाना—बनवाना, ब्याह शादीके व जीवनमरणके विकल्पो मे पडना ग्रहस्थोके रोग, शोक आदि कष्ट मिटानेको यत्र मत्रादि करना आदि कार्योको आत्मोन्नतिमे विघ्नकारक व मनको आकुलित रखनेके कारण छोड दिये हो । तथा आरभके कारणभूत जो दश प्रकारके वाहरी परिग्रह हैं उनका भी जिसने त्याग किया हो । अर्थात् जिसके स्वामित्वमे न खेत हो, न मकान हो, न चादी हो न सोना हो, न गोवश हो न अन्नादि हो, न दासी हो न दास हो, न कपडे हो न वर्तन हो । तथा जिसने मोह जनित सर्व परिणतियोसे भी ममता छोड दी हो अर्थात् १४ प्रकारकी अतरग परिग्रह भी न रखता हो । अर्थात् जिसने मिथ्यात्त्व,क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पु वेद, नपु सकवेद इन १४ वातोसे ममता हटा ली हो । तथा जिसने अपना मन अपने आधीन किया हो, जिसका मन चचल न हो ऐसा वशमे हो कि जव साधु चाहे तव उसे ध्यान व स्वाध्यायमे लगाया जासके तथा मनमे यह वैराग्य हो कि ससार असार है मोक्ष ही सार है । इद्रियोके भोग क्षणभगुर व अतृप्तिकारक है व आत्मा सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवत व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है । ऐसे ही साधु जव स्वात्मानुभवका अभ्यास करते २ शुक्लध्यानपर पहूँचते हैं तव कर्मोका सहार कर मुक्त होजाते हैं । श्री पद्मनदि मुनि यत्याचार धर्ममे कहते हैं—

आचारो दशधर्मसयमतपो मूलोत्तराख्या गुणा ।
मिथ्यामोहमदोज्झन शमदमध्यानाप्रमादस्थिति ॥
वैराग्य समयोपवृहणगुणा रत्नत्रय निर्मल ।
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानदाय धर्मोयते ॥३८॥

भावार्थ—अविनाशी मोक्षपदकी प्राप्तिके लिये यतिका धर्म यह है कि वह चारित्रवाले, दशलाक्षणी धर्मको अभ्यासे, संयमी रहे, तपस्वी हो २८ मूलगुण व उत्तर गुणपाले, मिथ्यात्व, मोह व मदको त्यागे, समभाव रक्खे इंद्रिय दमन करे, ध्यान करे, प्रमादी न हो' वैराग्य धारण करे, सिद्धात शास्त्रका ज्ञान व दाता रहे, निर्मल रत्नत्रय पाले, अन्तमे समाधि भावसे मरण करे। वास्तवमे सच्चे ध्यानी साधु ही मोक्षके पात्र होते है—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जिसने अक्षकपाय शत्रु जीते, व्यवहार लौकिक तजा।
बाह्याभ्यतरसग सर्व छोडा, मनको स्ववशमे भजा॥
भवतन भोग विराग श्रेष्ठ धरके निजध्यान उत्तम किया।
ते सज्जन सब कर्ममल हरके शिवधाम वासा लिया॥३६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीर और आत्माका भेद ज्ञान ही लाभकारी है—

सघस्तस्य न साधन न गुरवो नो लोकपूजा परा।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठै कृत सस्तर॥
कर्तात्मैव विबुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदा देहात्मनो सर्वदा।३७।

अन्वयार्थ—(तस्य) उस आत्मध्यान या आत्म शुद्धिका (साधन) उपाय (न सघ) न तो मुनि आर्जिका श्रावक श्राविकाका सघ है (न गुरव) न गुरु आचार्य हैं (नो परा लोकपूजा) न लोकोसे बडी पूजा पाना है (नो योग्यै तृणकाष्ठ शैलधरणीपृष्ठै·

पाते हैं व उनका ही साधन मोक्षका साधन है। विना शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन पाए परसे विराग नही होता है परसे विराग विना स्वात्माराममें विश्राम नही होता । यद्यपि आत्मा अमूर्तीक है तथापि उसको निर्मल जलके समान अपने शरीररूपी घटमे देखना चाहिये और जैसे गगानदी मे गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्माके जल सदृश निर्मल स्वभावमे अपने मनको डुबाना चाहिये । ॐ या सोऽहं मन्त्रका आश्रय लेकर बारबार मनको आत्मारूपी नदीमे डुबानेसे मनका चचलपना मिटता है और वीतरागताका भाव बढता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज है। इसीपर चढके भव्य जीव ससार पार होजाते हैं। अतएव ज्ञानीको आत्मध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये । श्री शुभचद्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

विरज्यकामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम ।
निर्ममत्व यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतु ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१२॥

भावार्थ—कामभोगोसे वैराग्य प्राप्त करके व शरीरकी भी वांछाको छोडकर यदि तू ममता रहित होजायगा तव ही तू ध्यान करनेवाला होगा अन्य प्रकारसे नही । इसलिये ससारके क्लेशोको नाश करनेके लिये आत्मज्ञानरूपी अमृतके रसका पान कर तथा ध्यानरूपी जहाजपर चढकर ससार समुद्रसे पार होजा।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । ५७

नहि होवे मुनिसग साधन कभी नहि लोक पूजा कभी ।
नहि गुरु भक्ति न सस्तर तृणमयी नहि काठधरणी कभी ॥

जिन जाना निज आत्मतत्वनिर्मल निजमें भये नत्पर।
जैसे दूव अलग अलग जल सदा तिम देह आनमपर ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मज्ञानी ही मोक्ष जा सकते है—

विगलितविषय स्व प्रस्थित बुध्यते य ।
पथिकमिव शरीरे नित्यमात्मानमात्मा ॥
विषमभवपयोधि लीलया लंघयित्वा ।
पशुपदमिव सद्यो यात्यसो मोक्षलक्ष्मीम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(य)जो (विगलितविषय) इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छाओंका दमन करनेवाला (आत्मा) आत्मा (शरीरे) शरीरमें (पथिक इव) यात्रीके समान (प्रस्थित) प्रस्थान करते हुए (स्व आत्मान)अपने आत्माको (नित्यम्) अविनाशी(बुध्यते) समझता है(असौ) वही (विषमभवपयोधि) इस भयानक ससाररूपी समुद्रको (पशुपद इव गायके खुरकेसमान (लीलया) लीला मात्रमें (लघयित्वा)पार करके(सद्य)शीघ्र ही(मोक्षलक्ष्मीम्)मोक्षरूपी लक्ष्मीको(याति)प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यहांपर भी आचार्यने आत्मज्ञानीको ही मोक्षका अधिकारी वताया है। पहले तो पदार्थोंमे किंचित् भी राग नहीं रखता है, वही आत्मा आत्मध्यानके प्रतापसे वढा चला जाता है उसके लिये यह ससार समुद्र जो महा भयानक व विशाल है वह गायके खुरके समान होजाता है वह उसको वहुत शीघ्र पार कर लेता है और मुक्ति द्वीपमे जाकर मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमे कहते है—

तत्पर परमयोगसपदाम् पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गत ।
नापरेण चलित पथेप्सित स्थानलानविभवो विभाव्यते ।। १० ।।

भावार्थ—जो आत्मध्यान मे लीन है वही उत्तम योग की सपदा का पात्र होता है। जो आत्मध्यान से बाहर है वह योगी नही लेसकता है। जो कोई आत्मध्यानके सिवाय अन्य मार्ग से चलता है वह अपने इच्छित मोक्ष स्थान के लाभ को नही प्राप्त कर सकता है। अतएव आत्मध्यान ही को उत्तम कार्य मानना व इसी का अभ्यास करना हितकर है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ३८

जो विषय विकार त्याग निज आत्म जाने।
पथिक सम विहारी देहमे नित्य माने ।।
विषम भव समुद्र तुर्त ही पार करता।
पशुपद वत् क्षणमे मुक्तितिय आप वरता ।। ३८ ।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ससारिक सुखसे विमुख होता है वही आत्मसुख को पाता है —

बाह्य सौख्य विषयजनित मु चते यो दुरन्त ।
स्थेय स्वस्थ निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम् ।।
योऽन्यैर्जन्य श्रुतिविरतये कर्णयुग्म विधत्ते ।
तस्यच्छन्नो भवति नियत कर्णमध्येऽपि घोप ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ—(य) जो कोई (दुरन्त) दु खदाई (बाह्य) बाहरी (विषयजनित) इन्द्रिय जनित (सौख्य) सुखको (मु चते) त्याग देता है (असौ) वही (स्वस्थ) अपने आत्मामे स्थित (स्थेय) अविनाशी व (निरुपमम्) उपमारहित व (पूतम्) पवित्र (सौख्यम्) सुखको (आप्नोति) पालेता है (य) जो कोई (अन्य जन्य श्रुति-

पडते हैं, अमृत फल खानेवालेको वे फल स्वादिष्ट नही भासते हैं। आत्मीकसुखका स्वाद ही परम विलक्षण है। इंद्रिय सुखका लाभ प्राणीको महान अज्ञानी बना देता है। अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसदोह मे कहते हैं—

लोकार्चितोऽपि कुलजोपि वहुश्रुतोपि,
धर्मस्थितोपि विरतोपि शमान्वितोपि ।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निंद्यम् ॥१००॥

भावार्थ—कोई मानव लोगोंसे पूज्यनीक हो, अत्यन्त कुलीन हो, वहुत शास्त्रका पारगामी हो, धर्ममे चलने वाला हो, विरक्त हो व शांतभाव सहितभी हो। यदि उसके इंद्रिय विषयरूपी सर्प का विष चढ जावे तो वह आकुलित होकर ऐसा वावला होजाता है कि वह कौनसा निन्दनीय कार्य है जिसे वह नही कर डालता है। वास्तवमे इंद्रियसुखमे आशक्ति मानवको धर्मभावसे गिराने वाली है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

विषय सुख विकार दुःखमय, छोडता जो ।
निरुपम थिर पावन आत्मसुख वेदता सो ॥
जो दोनो कर्ण मूंदता पर न सुनता ।
सो निज कर्णोमे, घोष प्रच्छन्न सुनता ॥ ३९ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर संपत्तिको अपना मानना अज्ञान है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

सयोगेन विचित्रदुःखकरणे दक्षेण सपादिता-
मात्मीया सकलत्रपुत्रसुहृद यो मन्यते सपदम् ॥
नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां मन्ये ऋणोपार्जिता ।
लक्ष्मीमेप निराकृतामितगतिर्ज्ञात्वा निजा तुष्यति ।४०।

अन्वयार्थ—(य) जो कोई (विचित्रदुःखकरणे दक्षेण) नाना प्रकारके दुःख उत्पन्न करनेमे प्रवीण ऐसे (सयोगेन) शरीर व कर्मके सयोगसे (सपदादिताम्) प्राप्त हुई (सकलत्रपुत्र-सुहृद)स्त्री पुत्र मित्रादि सहित(सपदम)सम्पत्तिको(आत्मीया) अपनी ही (मन्यते) मानने लगता है। (मन्ये) मैं समझता हूँ कि (एप) यह (निराकृतामितगति) विशेष ज्ञान रहित या मिथ्याज्ञानी (नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरा) प्राणी तरह तरहकी आपत्तियोको बढानेवाली (ऋणोपार्जिता) कर्जसे प्राप्त होने वाली (लक्ष्मीम्) लक्ष्मी को (निजा) अपनी लक्ष्मी (ज्ञात्वा) जानकर (तुष्यति) सुखी होरहा है।

भावार्थ—यहा आचार्यने बताया है वह मानव महा मूर्ख है जो कर्मसयोगसे प्राप्त पदार्थो को अपना मान लेता है। इस जीवके साथ कर्मोका सयोग नाना प्रकार दुःखोको उत्पन्न कराने वाला है, कर्मोके उदय से ही रोग, शोक, वियोग होता है। कर्मोके उदयसे ही क्रोध, मान, माया, लोभका विकार होता है। कर्मोके निमित्तसे शरीर की प्राप्ति होती है, शरीरमे इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोसे इच्छापूर्वक विषय ग्रहण करता है। विषयो को पाकर राग करता है उनके चले जानेपर शोक करता है। पुण्यके उदयसे जब इसको मनोज्ञ स्त्री, सुन्दर पुत्र व साताकारी मित्र प्राप्त होते हैं तब उनमे राग करता है, जब यह नहीं रहते

व उनपर कोई आपत्ति आती है तो इसे बडा खेद होता है। सॉसारिक पदार्थोका सम्बन्ध व रक्षण आदिकी विधि करते हुए महान् सकटोको सहना पडता है। जो कोई मूर्ख कर्मोके उदयसे प्राप्त चेतन व अचेतन सम्पदाको अपनी मानता है वह मानो कर्ज लाकर परको लक्ष्मीको अपनी मानता है। जो कर्ज लेकर व्याज सहित धन चुकाता नही है वह अन्तमे राजदण्ड आदि पाता है। बुद्धिमान कर्जके धनमे कभी ममता नही करते हैं। वह उसको परका ही मानते हैं व शीघ्र ही उसको दे डालना चाहते हैं इसी तरह कर्मोके उदयसे प्राप्त पदार्थोको ज्ञानी जीव अपना कभी नही मानते हैं—वे कर्मोके छूटनेपर छूट जानेवाले हैं। ज्ञानी अपनी आत्मीक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई सम्पत्तिके सिवाय और किसीको अपनी नही मानता है। तत्वज्ञानीको यही भाव अपने मनमे रखकर आत्म तत्वका मनन करना चाहिए। ज्ञानी ऐसा विचारते है जैसा स्वामी अमितगतिजीने सुभाषितरत्नसदोह मे कहा हैं —

किमिहपरमसौख्य नि स्पृहत्त्व यदेत-
त्किमथ परमदु ख सस्पृहत्त्व यदेतत् ।
इति मनसि विधाय त्यक्तसगा सदा ये,
विधदति जिनधर्म ते नरा पुण्यवन्त ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऐसा मनमे निश्चय करके कि इच्छा रहितपना ही परम सुख है तथा इच्छा सहितपना ही महान दु ख हैं परिग्रहोको छोडकर जिनधर्मको धार करके सेवते है वह ही पुण्यात्मा हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द। 40

नाना दुखकरकर्मसग वशते, पाई सकलसम्पदा।
वनितापुत्रसुमित्र राजलक्ष्मी, वृप नाश करती सदा॥

द्वेष करता है जो हमारे अहितकी बाते करते हैं तथा अपने व्यवहारसे हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणीके मनसे रागद्वेष हटानेके लिये आचार्य कहते हैं कि-हे भाई! तू किसपर राग व किसपर द्वेष करेगा जरा तुझे विचारना चाहिये। यदि तू मित्रके शरीरसे राग व शत्रुके शरीरसे द्वेष करे तो यह तेरी मूर्खता ही होगी क्योकि शरीर बिचारा जड अचेतन है वह न किसीका बिगाड करता है न सुधार करता है। शरीरके सिवाय उनकाआत्मा है उसको यदि तू सुख तथा दु खका देनेवाला माने तो वह आत्मा बिलकुल नही दिखता। उसका भाव यह होगया है कि इन्द्रियोके भोगोसे आत्माको सुख—शाति नही होती है। किन्तु उलटा रागद्वेषकी मात्राए बढकर मोक्ष-मार्गमे विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने पीने देखने आदिसे हट गई हो। तथा आत्मसुखका अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्रि अपनी यात्रामे भिन्न २ स्थानोसे विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्राका ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जवतक मोक्ष न पहुचे यह भिन्न २ शरीरमे वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीरके बिगडते हुए आत्मा नही बिगड़ता है। यह अनादिसे अनतकाल तक अपनी सत्ता रखने-वाला है। इसतरह जिसका लक्ष्य शरीररूपी ठहरनेके स्थानपर नही रहता है किन्तु मुक्तिद्वीपमे पहुचना है यह लक्ष्य रहता है तथा जिस किसी शरीरमे कुछ कालके लिये ठहरता है उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है उस शरीरमे व उसके सबधी चेतन व अचेतन न जाने तवतक उसपर राग व द्वेष किस तरह किया जासकता है। तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करनेका नही है। मैं सर्व सगसे रहित हू। न मेरेमे कोई ज्ञानवरणादि द्रव्यकर्म है

निश्चय नयके द्वारा देखते हुए शत्रु मित्रकी कल्पना ही मिट जाती है—

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

या जगमे हितकारि मित्र मेरा, वा शत्रु जो दुख करे ।
देखू देह अचेतन तिन्होकी, सो देह मम क्या करे ॥
सुखदुखकारी आतमा यदि कहो, सो दृष्टि पडता नही ।
मैं निश्चय परमातमा असगी, रुष तोष करता नही ॥४१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरा कोई नाश कर नही सकता मैं किससे राग व द्वेष करू ।

क्रोधावद्धधिया शरीरकमिद यन्नाश्यते शत्रुणा ।
सार्ध तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति सवधता ॥
सवधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्ते ।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेपरागोदय ॥४२॥

अन्वयार्थ—(क्रोधावद्धधिया) क्रोधसे युक्त बुद्धिवाले (शत्रुणा) शत्रुसे (यत्) जो (इद) यह (शरीरकम्) शरीर (नाश्यते) नाश किया जाता है (तेनविचेतनेन सार्ध) उस अचेतन शरीरके साथ (मम) मेरा (कापि) कुछ भी (सम्बन्धता) सम्बन्ध (नो अस्ति) नही है। (येन) जिसके साथ (मम शश्वत् अचल सवध) मेरा हमेशा निश्चल सम्बन्ध है (स) वह (आत्मा) आत्मा (न विध्वस्यते) नही नाश किया जासकता है (इति) ऐसा समझकर (मतिमता) बुद्धिमान पुरुषके द्वारा (क्वापि) किसीमें भी (विद्वेपरागोदय) रागद्वेषका प्रकाश (न विधीयते) नही किया जाता है।

भावार्थ—यहा आचार्यने शत्रु भावको मिटानेकी और एक रीति बताई है। जो कोई किसीका शत्रु बनकर उनको नाश

करली जासकती है कि जिसको (शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा) इन्द्र, चक्रवर्ती या नारायण नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् अवश्य मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति की जा सकती है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने बतलाया है कि ममता ही दुःखोंको बढ़ानेवाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करानेवाला है। इस संसारमें इस जीवने अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर पाये व छोड़े व हरएक शरीरमें रहकर व उसीमें लिप्त होकर बहुतसे कर्मोंका बंधन किया। जिन कर्मबंधके कारण संसारमें भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीरमें व शरीरके

में मोह न करके नित्य निरंजन निज आत्मामें ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

निश्चयपचाशत्में पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि ।

प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥३॥

भावार्थ—जब मनका मोह शरीरादिसे छूट जाता है और यह मन आनन्दसागरमें डूब जाता है तब मनमें जो कुछ प्रतिभाष होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है वह जयवंत रहो।

कि जिनसे इस आत्माको दुर्गतिमे जाकर घोर सकट भुगतना पडता और उसको उद्धारका मार्ग मिलना कठिन होजाता है तथा जो बुद्धिमान इस मानव देहको धर्मसाधनमे लगाते जप,तप शील, सयम पालते ध्यान स्वाध्याय करते वे अपने आत्माका सच्चा हित करते उसे सच्चे सुखका भोग कराते, उसी मुक्तिके मार्ग पर चलते हैं। यद्यपि इस तरह वर्तन करते हुए शरीरको काबूमे रहना पडता तव शरीर अवश्य पहलेकी अपेक्षा कुछ सूखता। इतना ही नही ये सब कार्य जो मोक्षमार्गके साधक हैं वे वास्तवमे शरीरके नाशके ही उपाय हैं। इन साधनोसे कुछ कालके पीछे शरीरका सम्बन्ध बिलकुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नही ग्रहण करेगी। ऐसी व्यवस्था हैं तब ज्ञानीको यही करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ हैं उसके पीछे अपना वुरा न कर डाले। उसे शरीरके मोहमे नही पडना चाहिए और शरीरका सम्बन्ध ही न मिले ऐसा ही उपाय करना चाहिये अर्थात् आत्मा के हितके लिये तप आदि आत्मध्यानको वड़े भावसे करना चाहिये यही आचार्यका भाव है।

पूज्यपादस्वामीने भी इष्टोपदेशमे कहा है —

तज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

भावार्थ—जो बातें जीवको लाभकी हैं उनसे शरीरका वुरा होता है तथा जिनसे देहका भला होता है उनसे जीवका उपकार होता है।

इसमे ज्ञानीको यही विचारना चाहिए कि कोईका घर नष्ट हो परन्तु घरमे रहनेवाला बच जाय तो वह काम करना अच्छा

है कि घर तो बन जाय व रहनेवालेका नाश होजाय वह क्या करना अच्छा है? वास्तवमें घरसे रहनेवालेका मूल्य बहुत ज्याद है। घर तो फिर भी बन सकता है। परन्तु रहनेवाला मर गया तो फिर जीना कठिन है। इसलिये शरीरको छोड़के व पटक आत्महित ही करना श्रेष्ठ है।

एकत्वाशीतिमें श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

बहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥७॥

भावार्थ—बाहरी शरीर आदि पदार्थोंका सम्बन्ध तो सर्व जीवोंके सदा ही होता रहता है वह तो सुलभ है। परन्तु बाहरी पदार्थोंसे भिन्न आत्माका ज्ञान व आत्माका ध्यान कठिनतासे मिलते हैं इसलिये इनका अभ्यास हितकारी है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो धन आदि पदार्थ भाव सारी, या देहको हित करे।
सो संसार समुद्र माहि पटके निजको सदा दुख करे॥
हितकर्ता तप आदि भाव जियको सो देहको दुख करे।
निर्मलधी इम जान देह हितकर परिणाम वर्जन करे॥४४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्माकी आराधनासे ही आत्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है—

शालिनी छन्द।

आत्मा ज्ञानी परममल ज्ञानमासेव्यमान।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥
सर्वत्रेद जगति विदित दीयते विद्यमान।
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुम क्वापि कस्यापि दत्ते॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (ज्ञानी) ज्ञान स्वरूप है, (आसेव्यमान·) यदि इसकी सेवा की जावे तो यह (परमम्) उत्कृष्ठ, (अमल) निर्मल (ज्ञान) ज्ञानको (वितरति) देता है (पुन) जब कि (काय) शरीर (अज्ञानी) ज्ञान रहित है (घोर अज्ञान एव) यदि इसकी सेवा की जावे घोर अज्ञानको ही देता है (जगति) इस जगतमे (इद) यह बात (सर्वत्र) सर्व स्थानमे (विदित) प्रसिद्ध है कि (विद्धमान दीयते) जिसके पास जो होता है वही दिया जाता है (कश्चित्) कोई भी (त्यागी) दानी (खकुसुम) आकाशके फूलको (क्वापि) कही भी (कस्यापि) किसीको भी (नहि दत्ते) नही देसकता है।

भावार्थ—यहापर आचार्य कहते है कि पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्दकी प्राप्ति करना चाहे उनको उचित है कि अपने आत्माका ही सेवन करे। क्योकि आत्मा स्वय ज्ञान स्वरूप व वीतराग आनन्दमई है। यदि आत्माका ध्यान किया जायगा तो आत्मा को अवश्य ही जो उसके पास गुण हैं वे स्वय प्राप्त होजायगे। यदि कोई शरीरकी सेवा करे, शरीरके मोहमे रहकर उनको सेवाचाकरीमे लगा रहे, उसके कारण जो राग, द्वेष, मोह होता है उसीको अपना स्वरूप मानता रहे, रातदिन अहकार ममकार मे लीन रहे तो उस अज्ञानीको आत्मीक गुणोको छोडकर जड अचेतन रूप शरीर व कर्मबंध व कर्मोदय रूप रागद्वेप रम इनकी सेवा करते रहनेसे अज्ञानका ही लाभ होगा, कभी भी शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। क्योकि जगत् मे यह नियम है कि जो किसीकी सेवा सच्चे भावसे करता है उसको वह वही वस्तु देसकता है जो उसके पास है। यदि कोई उससे ऐसी वस्तु मांगे जो उसके पास नही है तो, वह उसे कभी नही दे सकता है।

जानकर अपने आत्मामें तिष्ठता है व आत्मानुभव करता है वही मोक्षमार्गमें चलनेवाला है, वही आत्मानंदरूपी अमृतका भोग करता है, वही अर्हंत, वही जगतका स्वामी व वही प्रभु व वही ईश्वर है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो निज आतम स्वच्छ ज्ञानमयको भजता परम प्रेमसे।
पाता निर्मलज्ञान और सुखको लहता शिव नेममें॥
जो सेता निज तन अचेतन महा लहता न ज्ञान कभी।
दाता देवे जो कि पास निज हो नभ फूल दे नहिं कभी॥४५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि लोग सुखकी तो इच्छा करते हैं परन्तु उपाय उल्टा करते हैं—

कांक्षन्त सुखमात्मनोऽनवसितं हिंसापरैः कर्मभिः।
दुःखोद्रेकमपास्तसंगधिषणाः कुर्वन्ति धिक्कामिनः॥
बाधां किं न विवर्धयन्ति विविधैः कंडूयनैः कुष्टिनः।
सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः खर्जूकषाकांक्षिणः॥४६॥

अन्वयार्थ—[अनवसितं] निरंतर [आत्मनः सुखं] अपनेको सुखकी [कांक्षन्तः] इच्छा करनेवाले [अपास्तसंगधिषणाः] विवेक बुद्धिसे रहित [कामिनः] कामी पुरुष [धिक] यह बड़े दुःखकी बात है कि [हिंसापरैः कर्मभिः] हिंसामई क्रियाओंके द्वारा [दुःखोद्रेकं] दुःखोंके वेगको [कुर्वंति] बढ़ा लेते हैं। जैसे [खर्जूकषाकांक्षिणः] खुजानेकी इच्छा करनेवाले [कुष्टिनः] कोढ़ीलोग [विविधैः] नाना प्रकार [कंडूयनैः] खुजानेकी वस्तुओंसे [सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः] सारे अंगके भागोंको मलनेमें [किं] किस [बाधां] कष्टको [न विवर्धयंति] नहीं बढ़ा लेते हैं?

अर्थात् अवश्य बढा देते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने बताया है कि इंद्रियोंके भोगोंको भोग कर सुखकी इच्छा करना मूर्खता है। जैसे कोढी रोग जिस को खाज खुजानेकी इच्छा इसलिये होती है कि खाज मिट जावे, सारे अंगको खुजाते हैं उससे उसकी खाज मिटती नहीं उल्टी बढ जाती है वैसे इंद्रियोंके भोगोंसे जो तृप्ति चाहते हैं उनके कभी तृप्ति व संतोष नहीं होता है, उल्टी तृष्णाकी ज्वाला और बढ जाती है। इंद्रियोंके भोगोंमें लिप्त होनेसे इस जन्ममें सुख नहीं मिलता, इतना ही नहीं उसने आगामी जीवनको भी नष्ट करता है क्योंकि इन्द्रियभोग योग्य पदार्थों की इच्छा करके यह प्रचुर धन प्राप्त करना चाहता है या अनेक विषयोंकी सामग्रीको इकट्ठा करना चाहता है जिससे बहुत अधिक हिंसामई आरम्भ करता है, असत्य बोलता है व अनेक अन्याय कर लेता है। इस कारण तीव्र पापोंको बांध लेता है उस पापके उदयसे परलोकमें महान् दुःखकी योनियोंमें पड जाता है व वहां भी पापके उदय से दुःखी होजाता है व आगामि नरकोंमें पड जाता है। खाज खुजानेवालेकी खाज जैसे मिटनेके स्थानमें बढ जाती है वैसे इंद्रियभोगोंको भोगकर तृप्ति चाहनेवालोंकी तृष्णाकी आग और अधिक बढ जाती है। ऐसा समझकर जो सुख की इच्छा हो तो आत्मीक सुखकी खोज करनी चाहिये और उस सुखके लिये अपने आत्माका ध्यान ही उपाय है इसको ग्रहण करना चाहिये।

अमितगति महाराजने सुभाषितरत्नसंदोहमें कहा है कि सच्चा सुख वीतरागी महात्माओंको ही मिलता है—

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां।
न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणाम् ॥

इति मनसि नितान्त प्रीतिमाधाय धर्मे ।
भजत जहित चैतान् कामशत्रून्दुरन्तान् ॥१०॥

भावार्थ—जो सुख इस लोकमे उन महात्माओको होता है जिनके कामभोगोकी इच्छा नही रही है वह सुख न देवताओको और न चक्रवर्ती राजाओको होसकता है । ऐसा जानकर मनमे गाढ प्रीतिको धारण कर धर्मकीसेवा कर और कठिनतासे छूटने वाले इन भोगोकी इच्छारूपी शत्रुओको त्याग दें ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो चाहें नित सौख्यको परकुधी हिंसामई कृति करे ।
करते बुद्धि विना जु भोग रत हो वे सुख कभी ना भरें ॥
जो कोढी निज खाज टालन निमित अङ्ग खुजलावता ।
साता पाता है नही वह कुधी बाधा अधिक पावता ॥४६॥

उत्थानिका—आगे कहते है जो अपने आत्माको अपने आत्मामे स्थिर करता है वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नही करता है वह अपने आत्माकाशत्रु है—

व्यापार परिमुच्य सर्वमपर रत्नत्रय निर्मलम् ।
कुर्वाणो भृशमात्मन सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा ॥
वैरी दु सहजन्मगुप्ति भवने क्षिप्त्वा सदा पातय—
त्यालोच्येति स तत्रजन्मचकितै कार्यं स्थिर कोविदै ॥

अन्वयार्थ—जो (सर्व अपर व्यापार) सर्व दूसरे व्यापारको (परिमुच्य) छोड करके (निर्मल)पवित्र(रत्नत्रय)रत्नत्रय धर्मको (भृश कुर्वाण । भलेप्रकार पालनेवाला व (आत्मप्रवृत्त)अपने आत्माका मित्र है । (अन्यथा) जो ऐसा नही करता है वह वैरी)

अपने आत्माका वैरी है। वह अपने आपको [सदा] सदा [दु सह-जन्मगुप्तिभवने] न सहने योग्य संसारके भयानक जेलखानेमें [क्षिप्त्वा] पटक कर [पातयति] अधोगतिमें पड़ जाता रहता है [इति] ऐसा [आलोच्य] विचार करके [जन्मचकितै] संसारके जन्मसे भय रखनेवाले [कोविदैः] बुद्धिमानोंको [तत्र] उस संसारमें [स स्थिर कार्य] वही स्थिर कार्य करना चाहिये अर्थात् अपने आत्मामें स्थिर होनेका उपाय करना चाहिये।

भावार्थ। यहां आचार्यने बताया है कि वह आत्मा अपने आत्माका घातक तथा शत्रु है, जो संसारके अनेक व्यापारोंमें तो उलझता है परन्तु अपनेआत्माके ध्यानको कभी नहीं आचरण करता है क्योंकि वह जीव नानाप्रकार पापकर्मोंको बांधकर अपने आत्माको नरकनिगोद पशुगति आदिके महान कष्टोंमें डाल देता है। फिर उसको संसारमें सुखी होनेका मार्ग कठिनता से मिलता है और वह मोक्षमार्गसे दूर होता जाता है परन्तु जो कोई बुद्धिमान और सब शरीर सबन्धी व्यापारोंको त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रको भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्माके ध्यानमें लयता पाता है वह अपने आत्माका मित्र है। क्योंकि ध्यानके बलसे वह कर्मोंका नाश करता है, आत्मामें सुख शांति तथा बलको बढ़ाता है और मोक्ष मार्गको तय करता जाता है, ऐसा जानकर जो कुछ भी बुद्धि रखते हैं उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारोंको छोड़कर ऐसा उपाय करें जिनसे अपने आत्मामें स्थिरता पावें और फिर मुक्त होजावें।

बुद्धिमानोंको आत्मघाती होना बडा भारी पाप है। जो अपने आत्माकी रक्षा करता है वही सच्चा आत्माका मित्र है।

सुभाषितरत्नसदोहमे स्वामी अमितगतिजी कहते है—
यद्वच्चित्त करोषि स्मरशरनिहत कामिनीसग सौख्य।
तद्वत्त्व चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्या ॥
किं किं सौख्य न यासि प्रगतनवजरामृत्युदु खप्रपच।
सचिन्त्यैव विधिस्त्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वम् ।४०६।

भावार्थ—जिस प्रकार तू कामदेवके वाणसे वीधा हुआ स्त्री भोगके सुखमे अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेंद्र भगवानसे कहे हुए मोक्षके मार्गमे चित्तको जोड दे तो तू जन्म जरा मरणके दु खोके प्रपचसे रहित क्या क्या सुखको न प्राप्त करे ? ऐसा विचार कर अपनी बुद्धिको उत्तमपने स्थिर करके उसी धर्ममे स्थिरता रखनी चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो तजके व्यापार अन्य जगके रत्नत्रय निर्मल।
सेवै धावै आत्मको रुचि धरै सो मित्र आतमपर ॥
जो राचे ससार दु ख पावे है आत्म वैरी सदा।
बुधजन भवभयधार कार्य निजमे थिरता धरें सर्वदा ॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मूढ पुरुष धनादि मे मग्न होकर मरणादि सकटोका विचार नही करता है।

मूढ सपदधिष्ठितो न विपद सपत्तिविध्वसिनी।
दुर्वारा जनमर्दनीमुपयतीमात्मात्मन पश्यति ॥
वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगव्याधादिभि सकुल।
कक्ष वृक्षगतो हुताशनशिखा प्रप्लोपयन्तीमिव ॥४८॥

अन्वयार्थ—(मूढ)मूर्ख (आत्मा)जीव(सपदधिष्ठित)जो सपत्तिको रखनेवाला है सो(आत्मन)अपने ऊपर (जनमर्दनी)

मानवोको नाश करनेवाली (सपत्तिविघ्वसिनी)तथा लक्ष्मी आदि का वियोग करनेवाली (दुर्वारा) कठिनतासे निवारने योग्य (विपद) विपदाको (उपयती) आते हुए (न पश्यति) नही देखता है जैसा (वृक्षगत) वृक्षके ऊपर बैठा हुआ कोई मानव या पक्षी (वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगव्याधादिभि) वृक्ष, वाघ, तरस, सर्प मृग व शिकारी आदिसे (सकुल) भरे हुए (कक्ष) वनको (प्रप्लोषयन्ती) जलानेवाली (हुताशनशिखा) अग्निकी शिखाके (इव) समान नहीं देखता है। अर्थात् जैसे वह मानव आग जलती तो देखता है परतु उठके भागता नही है ऐसा यह धनोन्मत्त पुरुष है।

भावार्थ—यहापर आचार्यने वताया है कि यह ससाररूपी वन महा भयानक है जिसमे मरणकी आग जल रही है जो इस वनमे रहते हैं वे मरते रहते है। जब प्राणीको मरण आजाता है उस समय सर्व सपत्ति धन दौलत स्त्री पुत्र मकान राज्य आदि छोड जाना पडता है। इस मरणकी आपत्तिको कोई टाल नही सकता है। अज्ञानी लोग यह देखा करते हैं कि आज यह मरा कल वह मरा था, आज यह सब छोडके चल दिया कल वह छोडके गया था। ससारमे मरण किसीको छोडता नही, न वालकको न वृद्धको न वुद्धिशालीको न मूर्खको न राजाको न रकको न इद्रको न धर्णेन्द्रको न चक्रवर्तीको न तीर्थंकरको, तो भी लोग अपना ध्यान नही करते। जो मूर्ख धनके मदमे उन्मत है, सम्पदामे लिप्त है वह ऐसा अन्धा होजाता है कि विषयभोगोको भोगता ही रहता है और मरण पाने वाला है इस वातको अपने लिए नही विचारता है, वह मूर्ख अज्ञानसे मरकर ससारमे कष्ट पाता है। यहा पर आचार्यने उस मूर्ख मानव या पक्षीका दृष्टात दिया है जो किसी भयानक वनके भीतर एक वृक्षपर बैठा हुआ हो

और उस वनमे आग लग रही हो तथा आगसे जल जावें इस भयसे शेर, हिरण, सर्प आदि पशु भागे जारहे हैं, अग्नि वढते वढते उस वृक्षपर भी आनेवाली है जिसपर वह बैठा है तथापि वह ऐसा वेखवर है कि आगको वढती हुई देखकर आप उससे वचनेका प्रयत्न नही करता है, भागता नही है। यही दशा अज्ञानी और मिथ्यादृष्टी जीवकी है, तात्पर्य कहनेका यह है कि ससारमे परपदार्थके सम्बन्धको क्षणभगुर जानकर व शरीरको कालके मुखमे बैठा हुआ मानकर हमको सदाही अपने आत्मोद्धारके प्रयत्नोमे दत्तचित्त रहना चाहिये। श्रीशुभचद्र आचार्यने ज्ञानार्णवमे कहा है—

शरीर शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधी।
मोह स्फुरति नात्मार्थ पश्य वृत्त शरीरिणाम् ॥२३॥

भावार्थ—शरीर तो गलता जाता है परतु आशा नही गलती है, आयु तो कम होती जाती है परतु पापकी वुद्धि नही जाती है, मोह तो वढता जाता हैं परतु आत्माका हित नही होता है। शरीरधारी प्राणियोका चरित्र देखो कैसा आश्चर्यकारी है। यह मोहका महात्म्य है जिससे अपने नाशको सामने देखकर भी वावला होरहा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

मूरख सपन् लीन होय रहता भावी नही देखता।
धन नाशक मरणादि सकट वडे आते नही पेखता॥
वृक्षादी मृग वाघ नागपूरित वनमाहि अग्नी लगी।
बैठा वृक्ष जु देखता वन जले नहि वुद्धि भागन लगी॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परमात्मा पदकी प्राप्ति आत्मध्यानसे ही होती है—

आत्म कल्याण चाहते हैं उन्हें अपने आत्माका ध्यान ही करना उचित है ।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमे कहते हैं—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि र्वर्जित किमपियत्तदेव न ।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चय ॥२५॥

हमारा आत्मतत्व ज्ञानरूप है, सर्व रागादिकी उपाधिसे रहित है । इसके सिवाय और कोई भी जरासा भी हमारा तत्व नहीं है । ऐसा जो ध्यानका निश्चय है वही मोक्षका मार्ग है । असलमे बात यही है कि मोक्ष अपना ही शुद्ध चैतन्यरूप है, जहाँ अपने आपको सर्व परभावोसे भिन्न अनुभव किया वही मोक्षका आनन्द आने लगता है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो आतम निजआतम आप ध्यावे परभावको टालता ।
सो निश्चय दुर्लभ अनूपम परम शुद्धात्मता पावता ॥
वनमे बांस समूह आप आपी घर्षण करे आपको ।
झटसे दुर्धर तेज धार अग्नी, ह्वे करे तापको ॥४९॥

उत्थानिका —आगे कहते हैं कि जो शरीरके कार्यमे मोही है वह आत्मकार्य नही कर सकता ।

व्यासक्तो निजकायकार्यकरणे य सर्वदा जायते ।
मूढात्मा स कदाचनापि कुरुते नात्मीयकार्योद्यमं ॥
दुर्वारेण नरेश्वरेण महति स्वार्थे हठाद्योजिते ।
भीतात्मा न कथचनापि तनुते कार्यं स्वकीय जन ॥५०॥

अन्वयार्थ—(य) जो कोई (सर्वदा) सदा (निजकायकार्यकरणे)अपने शरीरके कार्यके करनेमे (व्यासक्त) लगा हुआ (जायते) रहता है (स) वह (मूढात्मा) मूढ बुद्धि (कदाचनापि)

धर्मका विस्मरण किसी भी समय न करना चाहिए। श्रीपद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमे कहते हैं—

विहायव्यामोह धनसदनतन्वादिविषये।
कुरुध्व तत्तूर्ण किमपि निजकार्यं वतबुधा ॥
नयेनेद जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना।
पुन स्यान्नस्याद्वा किमपरवचोऽडबरशतै ॥५२॥

भावार्थ—हे बुद्धिमानो! धन, गृह, शरीरादिके सम्बन्धमें ममताको छोडकर शीघ्र ही अपने आत्महितके कार्यको करो जिससे यह ससार न वढने पावे क्योकि फिरसे यह उत्तम मनुष्य जन्म आदिकी प्राप्ति हो वा न हो व्यर्थको वातोके वनानेसे क्या लाभ होगा।

प्रयोजन यह है कि कैसी भी अवस्थामे हो, धर्म साधनको सदा ध्यानमे रखना चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द। ५०

जो निज देह मयी कुभोग रत हो निज देहको पालता।
सो मूरख निज आत्म कार्य हितको कुछ भी नही साधता।
जो चाकर भयभीत ही नित रहे निज स्वामि कारज करे।
सो निज हितको भूल त्रास सहता निज जन्म पूरा करे ॥५०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धनादि पदार्थोंमे लीनता मोक्षके साधनोमे बाधक है—

लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदया—
स्त्यज्यन्ते स्फुटमात्मनेह सकला एते सतामर्जितै. ॥

जन्मांभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः किं साध्यते कांक्षितं ।
यत्कृत्वा परिमुच्यते न सुधियस्तत्रादरं कुर्वते ॥५१॥

अन्वयार्थ—(इह) इस संसारमें (लक्ष्मीकीर्तिकलाकलाप-ललनासौभाग्यभाग्योदयाः) धन, यश, कलाओंका समूह, स्त्री, सौभाग्य, भाग्यका उदय आदि (एते सकलाः) ये सब पदार्थ (आत्मना) आत्माद्वारा (त्यक्तुं पार्यन्ते) प्रत्यक्ष छोड़ दिये जाते हैं (अर्जितैः) इन पदार्थोंको उत्पन्न करनेसे (जन्मांभोधि-निमज्जिकर्मजनकैः) संसार समुद्रमें डुबानेवाले कर्मोंका बंध होता है इसलिये इन पदार्थोंसे (सतां) सज्जन पुरुषोंका (किं) क्या (कांक्षितं) चाहा हुआ मोक्ष पुरुषार्थ (साध्यते) साधन किया जा सकता है? अर्थात नहीं साधन होता है। (यत्कृत्वा परिमुच्यते) जिस वस्तु व कामको पैदा करके फिर छोड़ना पड़े (तत्र) उस काममें वा पदार्थमें (सुधियः) बुद्धिमान लोग (आदरं) आदर (न कुर्वते) नहीं करते हैं।

प्रयोजन कहनेका यह है कि धनादि पदार्थोंका मोह करना वृथा है, इनको सचय करना भी वृथा है क्योकि एक तो ये कभी आत्माके साथ २ जाते नही स्वय छूट जाते हैं, दूसरे इनके मोह मे आत्माका उद्धार नही होता है, आत्मा पवित्र नही होसकता है। इसलिए ज्ञानीको इसमे राग ही न करना चाहिये। इसको उत्पन्न करनेका भी मोह छोड देना चाहिये और आत्मकार्यमे लगा देना चाहिये। जिम वस्तुको वडे परिश्रमसे कष्ट सह करके एकत्र किया जावे और उसे फिर छोडना ही पडे उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये बुद्धिमान लोग कभी भी चाह नही करते हैं। इसलिये हमको धनादिकी चाहको छोडकर स्वहित ही कर्त्तव्य है। ऐसा ही भाव श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशके भीतर वताया है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त सचिनोति य ।
स्वशरीर सपकेन स्नास्यामीति विलपति ॥१६॥
आरभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अते सुदुस्त्यजान् कामान् काम क सेवते सुधी ॥१७॥

भावार्थ—[कोई निर्धन मनुष्य यह विचार करता है कि धन कमाकर दान करूगा इसलिये धनको इकट्ठा करु वह ऐसी ही मूर्ख है जो यह विचारे कि मैं अपने शरीरको कीचडसे लिप्तकर फिर स्नान कर लूगा इसलिये कीचडसे लीपने लगे। जिस पाप को छुडाना ही पडे उस पापको लगाना ही अच्छा नही है। यदि धन कमानेसे पाप सचय होता है तो जो मुक्ति चाहता है उसे इस जजालमे नही पडना चाहिये।] ये इन्द्रियोके भोग आरभमे सताप करनेवाले हैं। अर्थात् इनके प्राप्त करनेके लिए

बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और जब ये मिल जाते हैं तब उनके भोगोंमें तृप्ति कभी नहीं होती है फिर ये इतना मोह बढ़ा देते हैं कि उनका छूटना कष्टप्रद होजाता है। इसलिये बुद्धिमान मानव इन भोगोंकी इच्छा नहीं करता है। यदि गृहस्थमें पुण्योदयसे मिल जाते हैं तो उनमें आसक्त नहीं होता है। उनमें मोह करके अपने आत्मकार्यको नहीं भुलाता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

लक्ष्मीकीर्तिकलापगृह ललना सौभाग्य आदिक सभी।
छुट जाते इस जीवसे इक दिन अरु बधकारी सभी॥
भवदधि डूबन हेतु मुक्तिपथ रिपु नहिं चाह धारे सुधी।
जो हो तजने योग्य लाभ उसका करते नहीं जो सुधी॥५१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान लोग कभी भी अनर्थ कार्य नहीं करते हैं—

हेयादेयविचारणास्ति न यतो न श्रेयसामागमो।
वैराग्यं न न कर्मपर्वतभिदा नाप्यात्मतत्त्वस्थिति॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधिय स्वार्थोद्यता कुर्वते।
शीतं जातु तनूत्सवो न शिखिनं विध्यापयन्ते बुधा।५२।

अन्वयार्थ—(यत) जिस कार्यके करनेसे (हेयादेयविचारणा न अस्ति) ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ऐसा विचार नहीं पैदा होवे (न श्रेयसामागम) न मोक्ष आदि जो कल्याणकारक है उनका लाभ होवे (न वैराग्य) न संसार देह भोगोंसे वैराग्य पैदा होवे (न कर्मपर्वतभिदा) न कर्मरूपी पर्वतों का चूरा किया जासके (नापि आत्मतत्वस्थिति) और न आत्मीक तत्वमें स्थिति हो अर्थात् आत्मध्यान हो (तत्कार्य) उस कार्यको (स्वार्थोद्यता) अपने आत्माके प्रयोजनमें उद्यमी (सुधिय) बुद्धि-

मान लोग (कदाचनापि) कभी भी नही (कुर्वंते) करते हैं जसे (शीत नुनुत्सव) शीतको दूर करनेकी इच्छा करनेवाले (वुधा.) बुद्धिमान लोग (जातु) कभी भी (शिखिन) अग्निको(न विध्या पयते) नही बुझाते हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यंने बताया है कि बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो विचारके साथ इस ससारमे काम करते हैं। हरएक मानवको अपना लक्ष्यविन्दु बना लेना चाहिये और जो लक्ष्य हो उसीके साधनकी जो क्रियाए हो उनको मन वचन कायसे करना चाहिये। जिसको शीत लग रही है और वह शीतसे बचना चाहता है तो वह अग्निको कभी नही बुझावेगा क्योकि अग्नि उसके हितमे साधक है। इसी तरह जो बुद्धिमान लोग अपने आत्माकी उन्नति करना चाहते हैं वे ऐसे ही साधनोको करेंगे जिनसे तत्वोका ज्ञान होकर यह विवेक होजावे कि क्या तो त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है तथा जिस चारित्रसे मोक्षका लाभ होगा उसी चारित्रको पालेंगे व जिस तरह मनमे ससार देह भोगोसे वैराग्य रहे वह उद्यम करेंगे जिस ध्यानसे कर्म पर्वतोका चूरा हो वैसा ही ध्यान करेंगे, जिस तरह आत्मा का अनुभव होजावे ऐसा तप साधेंगे। कभी भी ऐसे प्रपचोंमे न फंसेंगे कि जिनमे फसनेसे तत्वज्ञान न हो, वैराग्य न हो, कर्मका नाश न हो व मोक्षकी प्राप्ति न हो।

प्रयोजन कहनेका यह है कि मानवोको स्त्री पुत्र मित्रादि धन परिग्रहमे ममताबुद्धि रखकर अपना अहित न करना चाहिये, सर्व पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न जानकर उनसे मोह निवारण कर आत्महितके लिए स्वाध्याय ध्यान सत्संगति आदि मे लगे रहना चाहिये। गृहस्थमे रहें तो जलमे कमलके समान भिन्न

रहे । यदि साधु हो तो रात दिन वैराग्यमें भीजा रहकर ध्यान की शक्ति बढ़ावे । गृहस्थने कभी भी ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्याय आदिके कार्य न करे जिनसे विषयोंमें अन्धा होकर इस नरजन्मके अमूल्य समयको यों ही खो दे और पीछे पछताना पड़े । मानवजन्मका समय बड़ा ही अमूल्य है । जो आत्महितमें दक्ष हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ वा साधु हैं—

श्रीपद्मनंदि मुनिने धर्मोपदेशामृतमें कहा है कि आत्मध्यान करना ही श्रेष्ठ है ।

आत्मामूर्तिविवर्जितोपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां ।
प्राप्तोपि स्फुरति स्फुट यदहमित्युल्लेखत. संततं ॥
तत्किं मुह्यत शासनादपिगुरोर्भ्रांति. समुत्सृज्यता—।
मंत. पश्यत निश्चयेन मनसा त तन्मुखाक्षव्रजा ॥८५॥

भावार्थ—आत्मा अमूर्तीक है तो भी शरीरमें मौजूद है, यद्यपि दिखाई नहीं पड़ता है तथापि "मैं" इस शब्दसे निरन्तर प्रगट है तब क्यों तुम मोहित होते हो, गुरुके उपदेशसे भ्रमको छोड़ो और मनके द्वारा निश्चय करके उसी आत्माकी तरफ अपने इंद्रियसमूहको तन्मयी करके उसीका ही अनुभव करो ।

वास्तवमें आत्मध्यान ही आत्माके कल्याणका मार्ग है इसलिये उसीका ही यत्न करना एक बुद्धिमान प्राणीके लिये हितकारी है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो बुध आतम कार्य उद्यममती सो कार्य करते नहीं ।
जासे कृत्य अकृत्य बोध नहि हो निजमोक्ष होवे नही ।
नहि होवे वैराग्य कर्म क्षय ना ध्यानात्म होवे नही ।
जो जन बाधा शीत टालनमती सो अग्नि शमता नही ॥५२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्याता मानव को उचित है कि क्रोधादि भावो को दूर रक्खे—

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभि ।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनस स्थैर्यं यत क्षिप्यते ॥
काठिन्य परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरत ॥५३॥

अन्वयार्थ—(यत) क्योंकि (कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभि) कामभाव, क्रोधभाव, शोक, ईर्षा, गर्व, द्वेष व प्रमाद आदि अशुद्ध भावोके द्वारा (शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनस) शुद्ध ध्यानको बढ़ानेवाले मनकी (स्थैर्यं) स्थिरता (परितापदानचतुरै हुताशै हेम्न काठिन्य इव) तीव्र गर्म करनेवाली अग्निके द्वारा सुवर्णकी कठिनताके समान (क्षिप्यते) नष्ट होजाती है(तत) इसलिये (ध्यानविधायिभि) ध्यान करनेवालोंके द्वारा (इमे कामादय.) ये काम क्रोधादि भाव (दूरत) दूरसे ही (त्याज्या) छोड़ने योग्य हैं।

भावार्थ—जैसे सोना कठिन होता है परन्तु यदि उसको अग्निकी ज्वालाओका ताप लग जावे तो पतला होकर बहने योग्य होजाता है, सोनेकी कठिनता नष्ट होजाती है, इसी तरह जो मानव आत्मध्यान करना चाहते हैं और वीतरागभावोंको मनमें बढाना चाहते हैं उनके मनकी थिरता काम, क्रोध, मान,

माया, लोभ, मद, प्रमाद आदि भावोंके आश्रयसे नष्ट होजाती है। इसलिये जो ध्यानका अभ्यास करना चाहें उनको इन भावोंसे दूर रहना चाहिये तथा उन निमित्तोंसे भी बचना चाहिये जिनके द्वारा मन मान लोभादि भावोंमें फंस जावे। इसीलिये उनको आरम्भ परिग्रहका त्याग करना चाहिये। गृहस्थोंके प्रपंचजालोंसे अलग रहना चाहिये। लौकिक जनोंकी संगतिसे बचना चाहिये। स्त्रियोंके स्पर्श से दूर रहना चाहिये। वनोंमें व एकान्त स्थानोंमें बैठना शास्त्र स्वाध्याय करना व ध्यान करना चाहिये, अल्पाहारी होना चाहिये, मिष्ट हितकारी वचन बोलने चाहिये। स्वाध्याय व ज्ञानके विचारने नित्य अनुरक्त होना चाहिये। जिन जिन कारणोंसे मनमें चंचलता होजावे व कषायका वेग उठ जावे उन सब निमित्तोंसे परे रहकर व बिलकुल मनको निश्चिन्त करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते हैं कि वीतरागीको ही आत्मध्यानकी सिद्धि होती है—

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७॥
स कोपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कीचडके हट जानेसे मुनिके निर्मल मनरूपी जलमें सम्पूर्ण वस्तुका सर्वस्व प्रगट होता है अर्थात् आत्माका ध्यान प्रकाशमान होता है। वीतरागीको ही ऐसा कोई परमानन्द प्राप्त होता है जिसके सामने तीन लोकका भी अचिन्त्य ऐश्वर्य तृणके समान मालूम होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । ५३

काम क्रोध विषाद मोह मदसे द्वेष प्रमादादिसे ।
जो मन निर्मल ध्यान बीच रत हो थिरता न होवे तिसे ॥
जैसे सुवरण अग्नि ताप वश हो काठिन्य तज देत है ।
इम लख ध्यानी काम आदि सबको अति दूरकर देत है ॥५३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्यानीजन मुक्तिके लिये ही ध्यान करते हैं—

व्यावृत्त्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोल चरिष्णु चिर ।
दुर्वार हृदयोदरे स्थिरतर कृत्वा मनोमर्कटम् ॥
ध्यान ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो ।
नोपायेन विना कृता हि विधय सिद्धि लभते ध्रुव ।५४।

अन्वयार्थ—(निर्मुक्तभोगस्पृह) जिस महात्माने भोगोकी इच्छाको त्याग दिया है वही (दुर्वार) इस कठिनतासे वशमे आनेयोग्य (लोल) लोलुपी या चचल (मनोमर्कटम्) मनरूपी बदरको (इद्रियगोचरोरुगहने) जो पाँचो इन्द्रियोंके भोगरूपी महान वनमें (चिर) अनादिकालसे (चरिष्णु)क्रीडा कररहा है (व्यावृत्य) वहाँसे हटाकर (हृदयोदरे) हृदय के भीतर (स्थिरतर कृत्वा) पूर्ण स्थिर करके (भवतते मुक्तये) ससारके फैलाव से छूट जानेके लिये (ध्यान ध्यायति) ध्यानका अभ्यास करता है। (हि) यह निश्चय है कि उपायेन विना) उपायके विना (विधय कृता) जो रीतिये की जावे तो वे ध्रुवम्) खातरीसे (सिद्धि) सफलताको (न लभते) नही पाती हैं।

भावार्थ—ससार आठ कर्मोंके बधनसे ही चलरहा है। इसलिये इन कर्मोंका नाश होना ही ससारका नाश है और मोक्षका

लाभ है। कर्मोंका नाश वीतरागभावसे होता है क्योंकि उनका बन्धन रागद्वेषादि भावोंसे हुआ करता है। वीतरागभावोंकी प्राप्ति तब ही होती है जब आत्माका ध्यान किया जाता है। आत्माका ध्यान भी तभी होता है जब मनरूपी बन्दरको वैराग्यके खूंटेसे बाँध दिया जावे। यह मन अनादिकालसे पाँचों इंद्रियोंके भोगोंकी इच्छामें उलझा हुआ रहता है और महा चंचल तथा लोलुपी हो रहा है। इस मनको बारह भावनाके चिन्तवनसे इंद्रियोंकी तरफसे हटाकर स्थिर किया जाता है तब ही ध्यान होसकता है। इसलिए ध्यानके अभ्यासकर्ताको उचित है कि सम्यग्ज्ञान व वैराग्यके द्वारा मनको [illegible] ठीक करे। पुरुषार्थके बिना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। लौकिक कार्यके लिए जैसा दीर्घदर्शीपनेके साथ विचार करके परिश्रम करनेकी जरूरत है ऐसे ही पारमार्थिक कार्यके लिए विचारपूर्वक परिश्रम करनेकी जरूरत है। मनके मारनेसे ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है।

सुभाषित रत्नसंदोहमें स्वयं अमितगति महाराज कहते हैं—

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्राङ्गणे वर्तमानं।
सर्वे नश्यन्ति दोषा भवभयजनका रक्षिते यस्य पुंसाम्॥
जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य।
तत्त्वे चेतो विदध्वं स्ववशमनुचरं स्व तत्र त्व प्रयाति।४०८

भावार्थ—जो तीन लोकके बीचमें मारा मारा फिरता है उस मनका रोकना बड़ा कठिन है तथापि इसके रुक जानेसे मनुष्योंके सर्व ही संसारके भयको देनेवाले दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए तुम मनको जीव अजीव आदि तत्त्वोंके प्रगट करनेमें निपुण ऐसे जैन वचनमें लगाकर तत्त्वके विचारमें इसे बसा

दो तब तुम आत्मीक सुखको देनेवाले अपने आत्माके स्वभाव को प्राप्त कर लोगे।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो इंद्रिय वनगहन मध्य रमता चिरकाल लोलुपमहा।
दुर्जन मन कपि थाँभ आप वशकर कर ध्यान आतम महा॥
इच्छा तजकर भोग होय निस्पृह भव जाल काटो महा।
विन पुरुषार्थ प्रधान काज कोई नहिं सिद्ध होता महा॥५४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि योगीको एक आत्मतत्वका ही ध्यान करना चाहिए—

चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयो यस्य व्यापायेऽखिला।
जायते भुवनप्रकाशकुशला ध्वांतप्रतानोपमा॥
यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं यद्ध्यायते योगिभि।
तत्तत्व परिचिंतनीयममल देहस्थित निश्चलम्॥५५॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस तत्वके (व्यपाये) अभावमे (भुवन-प्रकाशकुशला) लोकको प्रकाश करनेमे कुशल ऐसे (अखिला) सर्व (चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतय) चद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदिक (ध्वातप्रतानोपमा) अ धेरेके समूहके समान (जायते) होजाते हैं (यत् विज्ञानमयप्रकाशविशद) जो ज्ञानमई प्रकाशको बहुत निर्मल रखनेवाला है व (यत् योगिभि. ध्यायते) जो योगियोंके द्वारा ध्याया जाता है (तत्) उस (अमल) निर्मल (निश्चल) व निश्चल (तत्व) आत्मतत्वको (देहस्थित) अपने ही शरीरमे विराजमान (परिचिंतनीयम्) ध्याना चाहिये।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने आत्माकी तरफ ध्यान खिचाया है। वह आत्मा जिसेका ज्ञान हमको प्राप्त करना चाहिए और

ज्ञान प्राप्त करके जिनको हमे ध्याना चाहिए यह आतमराम कही दूर नही है आपही है अपने शरीरभरमे सम्पूर्णपने व्यापक या फैला हुआ है। जैसे घडेमे जल भरा होता है ऐसे ही अपने शरीररूप घटमे सर्व स्थानमे फैला हुआ है। वह पूर्ण ज्ञानमय है—उसका ज्ञान ऐसा निर्मल है कि उसमे सर्व ही जानने योग्य पदार्थ दर्पणके समान झलकते हैं, इस आत्माका जबतक सम्बन्ध शरीरसे रहता है तबतक ही हम अपनी आखोसे चद्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे आदि पदार्थोंको देख सकते हैं। यद्यपि वे लोकमे प्रकाशमान हैं और जगत के बाहरी पदार्थोंको झलकाते हैं तथापि यदि हमारे भीतर आत्मतत्व न हो तो हम उनको देख नहीं सकते तब तो वे हमारे लिए मानो अंधकारके समूह ही हैं। जिस आत्माके होते हुए हम बाहर भीतर सब कुछ देख सकते हैं व जान सकते हैं तथा यही वह आत्मतत्व है जिसका योगीगण ध्यान करते हैं। तीर्थंकर भी इसीका ही अनुभव करते हैं। वही आत्मतत्व हमारी देहमे है वह बिलकुल निर्मल है, कर्मोंके मध्य पडा है तो भी स्वभावसे उनसे भिन्न है। यह ऐसा निश्चय है कि कभी भी अपने स्वभावको त्यागता नही है ऐसे ही आत्मतत्वका चिंतवन हरएक गृहस्थ या मुनिको करना उचित है। यहा पर आचार्यने बता दिया है कि जिस तत्व पर पहुचना है व जिस तत्वका ध्यान करना है, वह तत्व आपही हैं, वह तत्व बिलकुल हमको प्रगट है। यदि वह शरीरमे न होवे तो इद्रिया कुछ जान नही सकती हैं। वह तत्व ज्ञानस्वरूप है सो भी अच्छी तरह प्रगट है। वह निर्मल जलके समान परम शांत, परम पवित्र व परम आनन्दमई है। इस तरह जो ज्ञानके चिह्नसे उसे पकडेगा उसे अवश्य वह तत्व मिल जायगा। बडे २ साधुजनोको वही तत्व प्यारा है, हमे भी उसे ही ध्याना चाहिए। श्री पद्मनंदि

मुनि सद्‌बोध चन्द्रोदयमे कहते हैं—

य कषायपवनैरचुबितो बोधवह्निरमलोल्लसद्दश ।
किं न मोहतिमिर विखडयन् भासते जगति चित्प्रदीपक ।३७।

भावार्थ—जो क्रोधादि कषायोकी हवासे स्पर्शित नही होता है, जो ज्ञानरूपी अग्निको धारनेवाला है, जो निर्मलपने उद्योतमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक जगत्‌मे प्रकाशमान है तो क्या वह मोहरूपी अ धेरेको नही खडन करेगा? वास्तवमे वह दीपक मैं आत्मा ही हूँ। वही मुनि एकत्वाशीतिमे कहते हैं—

सयोगेन यदा यातँ मत्तस्तत्सकल परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोहमिति मे मति ॥२७॥

भावार्थ—जो कुछ शरीरादिका सयोग मेरे साथ चला आ रहा है वह सब मुझसे पर है—भिन्न है। जब मैं उनसे मोह त्याग देता हूँ मैं मानो मुक्तरूप ही हूँ ऐसी मेरी बुद्धि है।

इस तरहके आत्मतत्वको ध्याना परम सुखका कारण है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द। 55

शशि सूरजग्रह तारकादि ये सब लोक प्रकाशी रहें।
पर आतमविन तम समूह जैसे कुछ भी न कीमत लहें॥
जो विज्ञानमई सुनिर्मल महा यतिजन जिसे ध्यावते।
वह निश्चल है आत्मतत्व बुधजन निज देहमे पावते।५५।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अज्ञानी मन मरण आनेवाला है इसको नही देखता हुआ अधर्ममे फसा रहता है—

ऐसी मूर्खता यह मन कर रहा है कि बारबार शका किया करता है कि कही मरण न आजावे परन्तु इस बातमे अपना मन नही जमाता है कि मरण तो एक दिन जरूर आवेगाही मुझको सावधान होजाना चाहिए और ऐसा उद्यम करना चाहिये जिस से मेरे आत्माका कल्याण हो, मैं मरकर दुर्गतिमे न जाऊं । यह ऐसी मूर्खता करता है कि फिर भी अपनेको अजरअमर समझता है और मन चाहा अधर्म कार्य करता रहता है, यही बडे खेदकी बात है । प्रयोजन यह है कि हे भव्य जीव ! मरणरूपी हाथी किस समय इस शरीररूपी घरको तोड डाले इसका कोई समय नियत नही है । वह जब अचानक आजाता है उस समय कुछ उपाय नही बन सकता । इसलिये मरणके आनेके पहले ही तुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिये और वह उत्तम कार्य एक आत्मध्यान है । उसकी तरफ पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये, यह तात्पर्य है ।

स्वामीअमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते है—

मृत्युव्याघ्रभयकराननगत भीत जराव्याधत—
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदु खतरुमत्ससारकातारगम् ॥
क- शक्नोति शरीरिण त्रिभुवने पातु नितान्तातुर ।
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकर जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ—यह शरीरधारी प्राणी ऐसे भयानक ससाररूपी वनमे पडा हुआ है जहा तीव्र रोग व दु सह दु खमई वृक्ष भरे हैं व जहाँ बुढापारूपी शिकारी है जिससे वह डरता रहता है व जहाँ मरणरूपी सिंह है और यह प्राणी उसके भयकर मुखके बीचमे आगया है । अब इस महान् व्याकुल प्राणीको तीन भुवन मे ऐसा कौन है जो बचा सके? यदि कोई है तो जन्मजरा मरण

को क्षयकारी श्री जिनेन्द्रका धर्मरूपी अमृत है, इसके विना कोई बचा नहीं सकता है। वास्तवमे वही मानव बुद्धिमान है जो इस मानव देहको अत्यन्त दुर्लभ व छूटनेवाला मानकर इसको आत्म धर्ममे लगाकर सफल करते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

क्षणमे नाशे घर शरीर तेरा है मृत्यु हाथी बडा।
भयसे श्वासें बार बार लेके क्यो है तु बाहर खडा॥
श्रद्धा नहि करना कि होय मग्ना माने अमर मैं रहूँ।
रे मन! मूरख पापकर्म उद्यम करता तुझे क्या कहूँ॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो परिग्रहवान हैं वे सदा आरम्भके विकल्प किया करते हैं और जैनधर्मसे प्रीति नही करते।

शिखरिणी वृत्तम्

करिष्यामीद व कृतमिदमिद कृत्यमधुना।
करोमीति व्यग्र नयसि सकल कालमफलम्॥
सदा रागद्वेषप्रचयनपर स्वार्थविमुख।
न जैने शुचितत्वे वचसि रमसे निर्वृतिकरे॥५७॥

अन्वयार्थ—(इद) यह (करिष्यामि) मैं करूँगा (वा) अथवा (इद कृत) यह मैंने किया था (अधुना इद कृत्य करोमि) या अब मैं यह काम करता हूँ (इति) इसतरह (व्यग्र) घवडाया हुआ (सदा) हमेशा (रागद्वेषप्रचयनपर) रागद्वेषके करनेमे लगा हुआ (स्वार्थविमुख) अपने आत्माके हितमे विमुख होता हुआ तू (सकल काल) अपने सम्पूर्ण जीवके समयको (अफल) निष्फल (नयसि) गमा रहा है परन्तु (शुचितत्वे) पवित्र तत्वको बताने

वाले व (निवृतिकरे) मोक्षको प्राप्त कराने वाले (जैने वचसि) जिन वचनमे (न रमसे) रमण नही करता है।

भावार्थ—यहाँपर आचार्य इस मूर्ख मनको समझाते हैं कि तू ऐसा शरीर, स्त्री, धन, पुत्र, कुटुम्ब आदिके मोहमे पडा हुआ है कि रात दिन तेरे यही विचार रहा करता है कि मैंने यह काम तो कर लिया है और यह काम मैं इस समय कर रहा हूँ व ऐसा ऐसा काम मुझे भविष्यमे करना है,यह तेरी विचारोकी शृंखला तेरी जिन्दगीभर चलती रहती है। जैसे तू विचार करता है कि अब इतना धन कमा लिया है, अब वह धन कमा रहाहू, अभी इतना धन कमाना है। एक पुत्रका विवाह कर चुका हूँ दूसरेका विवाह करना है। एक पुत्रको व्यापारमे लगा चुका हूँ दूसरेको व्यापारमे लगाना है। पुत्रके पुत्रका अर्थात् पोतेका मुँह देखना है। पोता होवे तो शीघ्र बडा करके उसका विवाह करके उस-की वधूको भी देखना है। उसने मेरा बडा बिगाड किया है उसे इसका बदला पहुँचाना है। मेरी स्त्री बहुत वस्त्राभूषण चाहती है इसके लिये गहना बनवाना है। आज अमुक व्यापारीका दिवाला निकल गया। रकम डूब गई क्या करूँ। उसपर किसी तरह मुकद्दमा चलाना है। इस तरह करोडो कामोको तू विचार करता है। सबेरेसे शाम होती है, शामसे सवेरा होता है, तू तो ससारी काम धधोकी ही चिंतामे फसा रहता है, कभी उनकामो की डोरी नही टूटती। उधर मरण निकट आजाता है, तू बावला अपने आत्माके हितके लिये कुछभी समय नही निका लता है—ममता मोहमे और रागद्वेषमे फसा हुआ सारा जीवन बिताकर इस अमूल्य नरजन्मको खो देता है। परमोपकारी जैनधर्ममे रुचि नही लगाता है न जिनवाणीको पढ़ता है जिससे

सच्चे आत्मतत्वका ज्ञान होवे और इस मोक्षमार्गको प्राप्त कर सके । अतएव आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि गृहस्थके जजालमे बावला न होवे और जिनवाणीकी शरण लेकर अपना सच्चा हित कर डाले।

वास्तवमे जो इद्रियोके विषयोमे उलझ जाता है उसका जन्म यो ही चला जाता है । सुभाषितरत्नसदोहमे स्वामी अमितगतिजी कहते हैं—

एकैकमक्षविषय भजताममीषा

सपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम् ।

पचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्य-

मक्षार्थमित्यमलधीरवियस्त्यजन्ति ॥८८॥

भावार्थ—एक एक इद्रियके वशमे रहनेवाले जीवोको यदि यमराजके घरका अतिथि होना पडता है तब जो जीव पाचो इद्रियोके विषयमे रत होता है उसके लिए क्या कहा जावे ऐसा जानकर निर्मल और धीर बुद्धि रखनेवाले पुरुष इद्रिय विषयो को छोड देते हैं।

मूलश्लोकानुसार शिखरिणी छन्द ।

करूगा यह कारज अर कर चुका कार्य यह मै ।
अभी यह करता हूँ रत नित प्रीति मोह तन्मय ॥
गमावे सब जीवन विफल कर निज हित न देवे ।
शिवकर जिन वचमे घ्यान कुछ भी न देवे ॥५७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्म ही प्राणीका रक्षक है—

कुर्वाणोऽपि निरतरामनुदिन बाधा विरुद्धक्रिया ।
धर्मारोपितमानसैर्न रुचिभिर्व्यापाद्यते कश्चन ॥

धर्मापोढधिय परस्परमिमे निघ्नति निष्कारणम्।
यत्तद्धर्ममपास्य नास्ति भुवने रक्षाकर देहिना ।५८।

अन्वयार्थ--(कश्चन) कोई मानव (अनुदिन) प्रतिदिन (निरंतरा) बहुतसी (बाधाँ) बाधा कारक (विरुद्धक्रिया विरुद्ध क्रियाको (कुर्वाण अपि) करता रहता है तो भी (धर्मारोपित मानस रुचिभि) धर्ममे मनको जमाए रखनेवाले रुचिवान प्राणियोके द्वारा (न) नही (व्यापाद्यते) पीडित किया जाता है, (धर्मापोढधिय) धर्ममे जिनकी बुद्धि नही हैं ऐसे मानव (परस्परम्) परस्पर (निष्कारणम्) बिना कारण (निघ्नति) घात करते रहते हैं (यत् तत् धर्मम्) ऐसा धर्म है उसको (अपास्य) छोड़कर (भुवने) इस जगत्मे (देहिनाँ) शरीर धारियोका (रक्षाकर) रक्षा करनेवाला और (नास्ति) नही है।

भावार्थ--यहापर आचार्यने धर्मकी महिमा बताई है कि जिनके चित्तमे धर्मभाव है, जो दयालु हैं व क्षमावान हैं वे किसीको पीडा नही देते। यदि कोई उनको बाधा देता है व उनके विरुद्ध क्रिया करता है तोभी उसपर क्षमाभाव रखके उनको कष्ट नही देते। वीतरागी जैन साधुओमे धर्मभाव पूर्ण रीतिसे भरा रहता है इसलिए वे किसीको सताते नही हैं कोई उपसर्ग करे तोभी क्रोध नही लाते हैं। यह महिमा उनके भीतर शांत भावरूपी धर्महीकी हैं परन्तु जिनके हृदयमे दया, क्षमा शांति आदि धर्म नही होते हैं व विना कारण ही एक दूसरेसे लड़ते झगडते रहते हैं व कष्ट देते रहते हैं व प्राणतक लेते रहते हैं। वास्तवमे तीनलोकमे जीवोकी रक्षा करनेवाला एक धर्म ही है। धर्म जिसके मनमे है वह प्राणियोका रक्षक है। धर्म जिसके मन नही वह प्राणिय़ोका हिंसक है। यदि कष्ट दूगा तो इसको

अन्वयार्थ—(नानारम्भपरायणै) तरह २ के आरम्भोंमे लीन (निरवरै) बड़े २ मनुष्योंके द्वारा (आवर्ज्य) एकत्रकरके (दु प्राप्य अपि) कठिनतासे प्राप्त करने योग्य ऐसा भी (य परिग्रह) जो परिग्रह (प्राणप्रयाणे) प्राणोंके वियोग होनेपर (तृण इव) तिनकेके समान (त्यज्यते) छोड देना पडता है (पुन) परन्तु (त्व) तू (दु खजनक त) दु खोको उत्पन्न करनेवाले उस परिग्रहको (आदौ एव) पहले ही (दूरत) दूरसे (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनोसे (विमु च) छोड दे (चेत मस्करिमोदक-व्यतिकर) तू अपने चित्तको भिष्टामे पड़े हुए लाडूको उठाकर फिर फेंककर (हास्यास्पद मा कृथा) हसीका स्थान मत बन।

भावार्थ—यहापर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह बडी २ मिहनतोसे एकत्र किये जाते हैं। ऐसी भी वस्तुए सग्रह की जाती हैं जो हरएकको मिलना दुर्लभ हैं। परतु करोडोकी सपत्ति क्यो न हो व कैसी भी कठिनतासे क्यो न एकत्र की गई हो वह सब परिग्रह बिलकुल छोड देना पडता है जब मरणका समय आजाता है। जैसे हाथसे तिनका गिर पड़े ऐसे ही सब छूट जाता है। जब परिग्रह आत्माके साथ जानेवाला नही है तब ज्ञानवान प्राणीको उचित है कि पहले वह परिग्रह स्वय छूटे, ज्ञानीको स्वय मोह त्यागकर छोड देना चाहिए और यदि परिग्रह नही हो तो नया परिग्रह एकत्र करनेकी लालसा न करनी चाहिये। परिग्रहको ग्रहण कर फिर छोडना वास्तवमे हसीका स्थान है। जैसे एक फकीरको किसीने बहूतसे लड्डू दिये उसमेसे एक लड्डू विष्टामे गिर पडा, उस लोभीने उसे उठा लिया तब किसीने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डूको तुमने क्यो उठाया? तब वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परन्तु घर

जाकर इसे छोड दूंगा । तब उसने बडी हंसी उडाई कि अरे जिसको फेंकना ही है उसको उठानेकी क्या जरूरत थी ? इसी दृष्टांतसे आचार्यने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नहीं है—यह आत्मकार्यमें बाधक है वास्तवमे चेतन अचेतन परिग्रहका मोह आत्माको करोडों संकल्प विकल्पोंमे पटक देनेवाला है । इससे जो निर्विकल्प समाधिको चाहते हैं और आत्मीक आनंदके भोगनेके इच्छुक हैं उनको यह परिग्रह त्यागना ही श्रेयस्कर है ।

श्री शुभचद्र आचार्यने ज्ञानार्णवमें कहा है—

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः ।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नर सगैरभिद्रुत ॥१८॥

भावार्थ—यह मानव परिग्रहोंसे पीडित होता हुआ इंद्रियोंके विषयरूपी सर्पोंसे काटा जाता है, कामके बाणोंसे भेदा जाता है तथा स्त्रीरूपी शिकारीसे पकड लिया जाता है ।

य संगपंकनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते ।
स मूढ़ पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम् ॥१९॥

भावार्थ- जो मूर्ख परिग्रहकी कीचडमे डूबा हुआ भी मोक्षके लिये चेष्टा करता है वह मानो फूलोंके बाणोंसे सुमेरु पर्वतको तोडना चाहता है ।

अणुमात्रादपि ग्रंथान्मोहग्रंथिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्या विश्वं न शान्तये ॥२०॥

भावार्थ--जरामें भी परिग्रहसे मोहकी गांठ दृढ़ होजाती है। इससे तृष्णाकी वृद्धि ऐसी होती है कि उसकी शांतिके लिये सर्व जगत भी समर्थ नहीं होता।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । 5१

नाना उद्यम बाध बाध दुष्कर सञ्चय परिग्रह किया ।
आया जब कहिं मरण बल नहि चला तृणवत् सु त्याग जु दिया ॥
दुखकारी तिहजान बुधजन तिस पहले हि त्यागनकरी ।
मूरख मलगति मोदक तु गहके क्यों त्याग लज्जाहरी ॥५९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो मानव भाई, पुत्र, मित्रादिमें मोह करता है वह वृथा शोक करके कष्ट पाता है।

स्वाभिप्रायवशाद्विभिन्नगतयो ये भ्रातृपुत्रादय ।
तास्त्व मीलयितु करोषि सतत चित्त प्रयास वृथा ॥
गच्छन्त परिमाणवो दश दिश कल्पान्तवातेरिता ।
शक्यते न कदाचनापि पुरुपैरेकत्र कर्तुं ध्रुवम् ॥६०॥

अन्वयार्थ—(भ्रातृपुत्रादय) जो भाई व पुत्र आदि कुटुम्बी (स्वभिप्रायवशात्)अपने अपने आशयरूप भावोंके द्वारा कर्म बाधकर (विभिन्नगतय) भिन्न २ गतिको चले गए हैं(तान्) उनसे(मीलयितु) मिलनेके लिये(चित्त) रे मन,(त्व) तू (सतत) निरन्तर(प्रयास) प्रयत्न (वृथा) बेमतलब (करोषि)करता है (कल्पान्तवातेरिता)कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे(परिमाणव) जो परमाणु (दश दिश) दस दिशाओंमें(गच्छन्त)चले गए हैं उनको(एकत्र कर्तुं)इकट्ठा करना (ध्रुव)निश्चयसे(कदाचनापि) कभी भी (पुरुपै) पुरुषोंके द्वारा (न शक्यन्ते) नहीं शक्य हो सकता है।

भावार्थ—यहा आचार्य अज्ञानी जीवकी चेष्टा वताते हैं कि यह जीव स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदिकोको अपना मान लेता है। जब उनमेंसे किसीका मरण होजाता है तब उनके मिलनेके लिये शोक किया करता है। वे कभी फिर उसी शरीरमें आकर मिल नही सकते, क्योकि उनमेंसे हरएकका जीव अपने अपने शुभ या अशुभ भावोके अनुसार जैसा आयु कर्म वाध चुका था उस ही गतिमे चला गया है। किसीने देवआयु बाधी थी तो वह देव होगया, किसीने नरक आयु वाधी थी वह नारकी होगया, किसीने पशु आयु वाधी थी सो पशु होगया, किसीने मनुष्य आयु वाधी थी सो फिर कोई अन्य प्रकारका मनुष्य होगया। उनके शरीरोको उनके कुटुम्वी अपने सामने दग्ध ही कर चुके हैं। इस लिये अपने मरे हुए पुत्रादिका शोच करना कि वे किसी तरह मिल जावें, महान वावलापना है। यह ऐसा ही असभव है जैसे उन परमाणुओको फिर इकट्ठा करना असभव है जो कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे दश दिशाओमे उड गए हैं। किसी मानवकी शक्ति नही है कि उनको सचय कर सके। इसी तरह किसी मानवकी शक्ति नही है कि मरे हुओको जिला सके व उनसे मिल सके। इससे हमे व्यर्थकी चिंता छोडकर अपने निज कामेंमे तत्पर रहना चाहिये।

श्रीपद्मनदिस्वामीने अनित्य पचाशत्मे वहुत अच्छा कहा है—

एकद्रुमे निशि वसति यथा शकुता।
प्रात प्रयाति सहसा सकलासु दिक्षु॥
स्थित्वाकुले वत तथान्यकुलानि मृत्वा।
लोका श्रयति विदुषा खलु शोच्यते क॥१६॥

भावार्थ—जैसे एक वृक्षपर रात्रिको बसेरा करनेवाले पक्षी सवेरा होते ही सर्व दिशाओंमें यकायक भाग जाते हैं । इसी तरह प्राणी एक कुलमे आयुपर्यंत ठहरकर फिर मरकर अपने २ कर्मानुसार अन्य कुलोंमे आश्रय कर लेते हैं विद्वान किस किसका सोच करे ? शोच करना वृथा है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

भाई पुत्र कलत्र मित्र आदि निज भाव अनुसार थे ।
गतिको बावत जात भिन्न गतिको मिलते न को काल थे ॥
तिनका शोच वृथा न बुद्ध करते परमाणु मिलना कठिन ।
जो भागे दशदिशा पवन सेती कल्पातके अशुभ दिन ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भोगोपभोग पदार्थोंकी इच्छा करना वृथा है क्योंकि उनसे तृप्ति नही होती है ।

भोज भोजमपाकृता हृदय ये भोगास्त्वयानेकधा ।
तास्त्व काक्षसि किं पुन पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण
तृप्तिस्तेपु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदय बिभ्रत ।
देशे चित्रमरी चिसञ्चयचिते वल्ली कुतो जायते ॥६१॥

अन्वयार्थ—(हृदय) हे मन (त्वया) तेरे द्वारा(ये अनेकधा भोगा) जो अनेक प्रकारके भोग (भोज भोज) भोग भोग करके (अपाकृता) छोडे जाचुके हैं (अहो) अहो बडे खेदकी बात है कि (त्व) तू (पुन पुन) वारम्वार (तान्) उन हीको कांक्षसि)इच्छा करता है वे भोग (तत्र अग्निनिक्षेपिण) उसी इच्छामे अग्नि डालनेके समान हैं अर्थात् तृष्णाको बढानेवाले हैं (तृष्णोदय बिभ्रत तव) तृष्णाकी वृद्धिको रखनेवाला ऐसा तू जो है सो तेरी(तृप्ति)तृप्ति(तेपु)उन भोगोके भीतर(कदाचित्)कभी भी

(न अग्नि) नहीं होसक्ता है। जैसे (विह्नतीक्ष्णवरचिते देशे) कहीं बहुत तप्तायमान स्थानमें या अग्निसे तपाए हुए स्थानमें (कुत) किसतरह (वल्ली वेल जायते) उग सक्ती है?

भावार्थ—यहांपर आचार्यने भोगासक्त मानवको भोगोंकी वांछासे धिक्कारा है। इस जीवने अनन्तकाल होगया चारों ही गतिके भीतर भ्रमण करते हुये अनेक शरीर धारण करके उनमें अनेक प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगे और छोड़े। उनके अनन्तकाल भोग लेनेसे भी जब एक भी इन्द्रिय तृप्त नहीं हुई तब अब भोगोंके भोगनेसे इन्द्रियां कैसे तृप्त होंगी? वास्तवमें जैसे अग्निमें ईंधन डालनेसे अग्नि बढ़ती चली जाती है वैसे इन्द्रियोंके भोगोंके भोगने से तृष्णाकी आग और बढ़ती चली जाती है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगोंसे कभी भी तृप्ति नहीं होसक्ती है जैसे अग्निसे या धूपसे तपे हुए जलते स्थानमें कोई भी बेलका वृक्ष नहीं उग सकता है। इसलिये बुद्धिमानोंको बारबार भोगोंको भोगकर छोड़े हुए भोगोंकी फिर इच्छा न करनी चाहिये। क्योंकि जो तृष्णारूपी रोग भोगोंके भोगनेरूप औषधि सेवनसे मिट जावे तब तो भोगोंका चाहना निभाना व भोगना उचित है परन्तु जब भोगोंके कारण तृष्णाका रोग और अधिक बढ़ जावे तब भोगोंकी दवाई मिथ्या है यह समझकर इस दवाका राग छोड़ देना चाहिये। वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिये जिससे तृष्णाका रोग मिट जावे। वह दवा एक शांत रसमय निज आत्माका ध्यान है जिससे स्वाधीन आनंद मिलता

सुखकी प्राप्तिका उद्यमकरना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः ।
प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम् ॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विगम्यं ।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः ॥६४॥

भावार्थ—जिस महात्माने इन्द्रियरूपी शत्रुके घमंडको मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मामें ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवोंसे न अनुभव करनेयोग्य आत्मीक सुखको पाता है वैसे सुखको वह मनुष्य कदापि नहीं पाता है जिसका चित्त भयानक विषयोंकी अग्निमें जलता रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

रे मन! तूने भोग भोग छोडे इन्द्रिय विषय बहु तरह ।
क्यों तू चाहे वारवार उनको तृष्णाग्नि वृद्धि करे ॥
जो तृष्णातुर होय भोग करते तृप्ती न होवे कभी ।
अग्नीसे जलते कुखेत माहीं नहिं वेल उगती कभी ॥६१॥

उत्थानिका - आगे कहते हैं कि इस जीवको पर पदार्थमें अहंकार छोडकर आत्मध्यान करना योग्य है।

ज्ञोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणी ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ।६२।

अन्वयार्थ—(आत्मन्) हे आत्मा (अहं शूर) मैं वीर हूं (अहं शुभधी) मैं शुभ बुद्धिधारी हूं (अहं मान्य) मैं माननीय हूं (अहं गुणवान्) मैं गुणवान हूं (अहं विभु) मैं समर्थवान हूं (अहं पुंसाम् अग्रणी) तथा मैं पुरुषोंमें मुखिया हूं (इति) इस तरहकी (दुष्कृतकरीं) पापको बांधनेवाली (कल्पनाम्) कल्पना को व मान्यनाको (सर्वथा) सब तरहसे (अपहाय) दूर करके (त्वं) तू (शश्वत्) निरन्तर (तत् अमल आत्मतत्त्व) उस निर्मल आत्मतत्त्वको (ध्याय) ध्यान कर (यत) जिससे (नैःश्रेयसीश्री) मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने बताया है कि आत्मध्यानके लिये आत्माके यथार्थ ज्ञान होनेकी आवश्यकता है। संसारीलोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, बल, बुद्धि आदि पाकर ऐसा अहंकार कर लेते हैं कि मैं सुन्दर हूं, मैं धनवान हूं, मैं बहुकुटुम्बी हूं, मैं प्रतिष्ठावान हूं, मैं बलवान हूं, मैं धनवान हूं, यह उनका मानना बिलकुल मिथ्या है क्योंकि एक दिन वह आएगा जिस दिन ये सब परपदार्थ व परभाव जो कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं छूट जांयगे और यह जीव अपने बांधे पुण्य पापको लेकर चला जायगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मामें ही रखते हैं वे निश्चय नयके द्वारा अपने आत्माके असली स्वभावपर निश्चय रखते हैं कि यह आत्मा सर्व रागादि विभावोंसे रहित है सर्व कर्मके बंधनोंसे रहित है। सर्व प्रकारके शरीरसे रहित है। आत्माका संबंध किसी चेतन व अचेतन पदार्थसे नहीं है। वे सब शरीरसे संबंध रखते हैं जो मात्र इस आत्माका क्षणिक घर है इसलिये उन ज्ञानी जीवोंकी अहंबुद्धि अपने ही शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहारमें काम करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कह दें कि मैं राजा हूं, वैद्य हूं, शूर हूं, चतुर हूं, समर्थ हूं

परन्तु वह अपने भीतर जानते हैं कि यह मुझे व्यवहारके न जाने के लिये व्यवहार नयसे ऐसा कहना पड़ता है परन्तु मैं उन रूप असलमें नहीं हूँ । मैं तो वास्तवमें सिद्ध भगवानके समान ज्ञाता दृष्टा आनदमई पदार्थ हूं । ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यवहारीक कल्पना जालको जो पापबंध कारक है छोडकर एक अपने आत्माको ही निश्चल मन करके ध्याता है । आत्माके ध्यानसे ही वीतरागताकी अग्नि जलती है जो कर्मोंके इंधनको जला देती है । और आत्माको स्वर्णके समान शुद्ध करती चली जाती है । इसलिए ज्ञानीको आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्तिकी लक्ष्मी स्वय आकर मिल जावे और ससारके चक्रकी फिरन मिट जावे ।

एकत्वाशीतिमें श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

शुद्ध यदेव चैतन्य तदेवाहं न सशय ।
यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमदिरम् ॥५२॥

भावार्थ—"जो कोई शुद्ध चैतन्यमई पदार्थ है वही मैं हूँ इसमे कोई सशय नहीं है ।" यह वचनरूप व विचाररूप कल्पना भी जिसमे नहीं है ऐसा मैं एक आनन्दका घर हूं ।

अहं चैतन्यमेवैक नान्यत्किमपि जातुचित् ।
सबधोपि न केनापि दृढ पक्षो ममेदृश ॥५८॥

भावार्थ—मैं एक चैतन्यमई हूँ और कुछ अन्यरूप कभी नहीं होता हूँ । मेरा किसी भी पदार्थसे कोई सबध नहीं है यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है ।

इस तरह जो दृढतासे आत्मज्ञानी हैं वे ही आत्मध्यान करनेको समर्थ होसकते हैं--

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

मैं हूं शूर सुबुद्धि चतुर महा धनवान सबसे बडा।
मैं गुणवान समर्थ मान्य जगमें मैं लोकमें हूं बडा ॥
हे आत्मन् ! यह कल्पना दुखकरी तू सर्वथा दूरकर।
नित निज आतमतत्व ध्याय निर्मल श्रीमोक्ष आवेस्वकर ।६२।

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि क्रोधादि कषायोंके त्याग विना मोक्ष होना कठिन है ।

मालिनी वृत्तम्

धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम् ।
यदि यतिनिकुरम्व जायते कर्मरिक्तम् ॥
भवति ननु तदानीं सिंहपोताविदार्य-
शशकनलकरंध्रे हस्तियूथ प्रविष्टम् ॥६३॥

अन्वयार्थ--(यदि) यदि (धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम्) नाना प्रकार क्रोध मानादि कषायोंको, परिग्रहको तथा भेषकी व्यवस्थाको पकडकर रहनेवाले (यतिनिकुरम्ब) साधुओंका समूह (कर्मरिक्तम्) कर्मोंसे खाली (जायते) होजावे अर्थात् मुक्त होजावे तो (ननु) मैं ऐसा मानता हूं कि (तदानीं) तब तो (सिंहपोताविदार्य शशकनलकरंध्रे) सिंहके बच्चेके द्वारा विदारण करनेको अशक्य खरगोशकी हड्डीके महीन छेदमें (हस्तियूथ) हाथियोंका समुदाय (प्रविष्टम् भवति) प्रवेश कर जावे।

भावार्थ--यहांपर आचार्यने दिखलाया है कि जो यथाजात मुनि भेष, परिग्रह रहितपना व कषायोंकी उपशमताको ध्यानमें न

लेकर तथा मनमानी परिग्रह व मनमाने तरह २ के भेषोको रख ले तथा क्रोध मान माया लोभादि कषायोको भी न छोडें और यह मान ले कि हम मुनि हैं, हमतो जरूर कर्मोसे छूटकर मुक्त होजावेंगे तो उनका यह मानना एक असभव बातको सम्भव करनेकी इच्छा करना है। जैसे यह असभव है कि खरगोशकी हड्डीके भीतर ऐसा महीन कोई छेद हो जिसको सिंहका बच्चा भी नही फाड सके उस छेदके भीतर कोई मानले कि हाथियोंके समूह घुसे चले जावेंगे तो यह मानना विलकुल असभव है उसी तरह यह मानना असभव है कि अतरग व वहिरगकी परिग्रह को त्यागे विना कोई मुक्त होजायगा। परिग्रह और क्रोधादि कषाय ही तो ससारके वढानेवाले हैं बधको नित्यप्रति करानेवाले हैं उनके रहते हुए मानना कि मैं मुक्त होजाऊँगा विलकुल उन्मत्तका भाव है। प्रयोजन कहनेका यह है कि यदि मुक्तिके परमानन्द को भोगना चाहते हो तो सर्व परिग्रहको व कषायादि भावोको त्यागो। पूर्ण साम्यभाव रूपी चारित्रका आश्रय लो। तब ही वीतरागता झलकेगी, यही परिणतिकर्मोको निर्जरा करानेवाली है तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है।

परिग्रह मोक्षमार्गमे बाधक है ऐसा श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्व वा सुराचल ।
न पुन सगसकीर्णो मुनि स्यात्सवृतेन्द्रिय ॥२६॥

भावार्थ—यदि कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड दें और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड दे तो भी अतरग वहिरग परिग्रह सहित मुनि कभी जितेन्द्रिय नही होसकता है।

न स्यात् ध्यातु प्रवृत्तस्य चेत स्वप्नेपि निश्चल ।
मुने परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥३९॥

भावार्थ—जिस मुनिका मन परिग्रह रूपी पिशाचसे अनेक तरहसे पीडित है उसका चित्त ध्यान करते समय स्वप्नमे भी निश्चल नही रह सकता है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द । 63

धर विविध कषाये ग्रथ कर भेष नाना ।
यदि यति गण चाहे कर्मसे छूट जाना ।
शशक हाड छिद्र शिशु सिंह नहि छेद पावे ।
किम हस्ती यूथ वामे प्रवेश पावे ॥६३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्त्रियोके सुखको सुख जानते हैं उनकी समझ ठीक नही है ।

कष्ट वचनकारिणीष्वपि सदा नारीषु तृष्णापरा ।
शर्माशा न कदाचनापि कुधियो मर्त्या विपर्याशया ॥
मु चते मृगतृष्णिकास्विव मृगा पानोयकाक्षा यतो ।
धिक्त मोहमनर्थदानकुशल पु सामवार्योदयम् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(कष्ट) यह बड़े दु खकी बात है कि (विपर्याशया) विरुद्ध अभिप्राय रखनेवाले मिथ्यादृष्टि (कुधिया)और मिथ्यात्व बुद्धिधारी (मर्त्या) मनुष्य (वचनकारिणीषु अपि नारीषु मानवके मनको फसानेवाली स्त्रियोमे भी (सदा तृष्णापरा) सदा तृष्णाको रखते हुये(कदाचनापि)कभी भी(शर्माशा) सुखकी आशाको (न मु चते) नही छोडते हैं (मृगा मृगतृष्णिकासु पानीयकाक्षा इव) जैसे हिरण मृगजलमे अर्थात् पानी कैसे

चमकने वाले रेतमे पानीकी इच्छाको कभी नही छोडते हैं(यत.) इसीलिये यह कहना पडता है कि (पु साम्) जीवोको (अनर्थ-दानकुशल) सकटोंके देनेमे कुशल(अवार्योदयम्)व जिसके प्रभाव को दूर करना कठिन है(त मोह)ऐसे मोहको(धिक)धिक्कार हो।

भावार्थ—यहां आचार्यने बताया है कि स्त्रियोकी तरफका मोह ऐसा भुलानेवाला है कि यह मोहितप्राणी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसे वासित हो वारवार स्त्रियोके फदमे फँसता है और बारवार दु ख उठाता है अपनी तृष्णाको बुझानेके स्थानमेअधिक बढा लेता है। फिर भी स्त्रियोंकेभीतर सुखकी वाछासे मोह करता है। दु ख सह करके भी दु खके कारणको वारवार ग्रहण करता है इस मोही प्राणीका हाल ठीक उस हिरणके समान है जो रेतीके जगलमे प्यासा होकर पानीको न पाता हुआ दूरसे चमकती हुई रेतको पानीके भ्रममेफँसकर पीनेको जाता है। वहा पानी न पाकर प्यासको अधिक बढा लेता है फिर भी नही समझता है वारवार रेतीमे जा जाकर व कष्ट उठा उठाकर आकुलित होता है। आचार्य कहते हैं कि इस मोहके नशेको धिक्कार हो जिसके कारणसे यह प्राणी व्यर्थ महान कष्ट पाता है व जिस मोहको दूर करना भी बडा कठिन है। तात्पर्य यह है कि हे मन! तू सावधान रह किसी भी तरह स्त्रियोके मोहमे न फँस नही तो महान आपत्तियोमे फँस जायगा और निरन्तर तृष्णावान रहकर व्याकुल रहेगा। आत्मीक सुखका प्रेमी होना योग्य है जो स्वाधीन है, पराधीन सुखमे लिप्त होकर ससारमे कष्ट पाना उचित नही है। स्त्री विषयका सुख सदा प्राणीको कष्टमे पटकनेवाला है। जैसा सुभाषितरत्नसदोहमे श्री अमित-गति आचार्य कहते हैं--

कठिनतासे बचने योग्य ऐसे (भववने) संसाररूपी वनमे (यैं कषायविषयैं) जिन इन्द्रियोंके विषय और क्रोधादि कषायोंके द्वारा (त्व अज्ञानवश) तू अज्ञानके फँदमे पड़ा हुआ (अनेकधा) अनेक तरहसे (पीडित) दु खी किया गया है (रे)रे चतुर पुरुष तू (अधुना) अबतो (पूत) पवित्र (ज्ञान) ज्ञानको (उपेत्य)पा कर (तान्) इन विषय कषायोंको (अशेषत) सम्पूर्णपने (विध्वंसय) नाश कर। (स्फुट) यह बात साफ है कि(विद्वांस)विद्वान पुरुष (समये) अवसर पाकर (शत्रून्) शत्रुओंको (अहत्वा) बिना मारे (न परित्यजति) नही छोडते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इस संसार वनमे कषाय और विषय बड़ भारी लुटेरे हैं। अज्ञानी प्राणी इनके मोहमे फँसकर वनमे घूमता फिरता है हिंसादि क्रूर कर्मोंको करता है फिर उन पापोंके फलसे अनेक प्रकारके दु खोंको उठाता है। इनके फँदसे बचना चाहिए। उपाय यह है कि इन शत्रुओंको इसने अज्ञान से मित्र मान लिया है सो अब यह उस अज्ञानको छोड़े और यह ठीक २ समझे कि ये मित्र नही है किन्तु बड़े प्रबल शत्रु हैं। इनके मोहमे पड़कर मैं दिनरात अपनी ज्ञानानन्दमई संपदाको लुटा रहा हूँ। जिस समय यह पवित्र ज्ञान हो जायगा कि मैं मोक्ष महलका रहनेवाला त्रिलोकज्ञ, त्रिकालज्ञ,अविनाशी, परम वीतरागी, स्वाधीन आनन्दका भोगी परमात्मा हूँ मेरा और इन पौद्गलिक रागादि भावोंका क्या सम्बन्ध है। ये कलुषता लिये हुए हैं मैं शान्त रूप हूँ--ये दु खदाई है मैं सुखरूप हूँ—ये जड़ हैं व ज्ञानके निरोधक हैं मैं चेतन हूँ—ये अनित्य है मैं अविनाशी हूँ—ये आकुलताकारी हैं मैं आकुलता रहित हूँ। जिस समय यह भेदविज्ञान उत्पन्न होगा और यह सम्यक्दृष्टि होकर अपने आत्मसम्पदाको देखता हुआ वहाँसे ज्ञान वैराग्य

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

हिंसादिक तरुधार कष्टकारी भववन महा दुर्गम ।
इंद्रिय विषय कषाय दु ख देते तू मूर्ख सहतापर ॥
अब तो निर्मल आत्मज्ञान लहिके इन सर्वका नाशकर ।
अवसर या निज शत्रु मार देते छोडे नही ज्ञानधर ।६५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जितना परिश्रम यह ससारी प्राणी धनादिके लिए करता है उतना यदि मोक्षके लिये करें तो अनन्त सुखको पावे ।

मालिनी वृत्तम्

असिमषिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगै ।
तनुधनसुतहेतो कर्म यादृक्करोषि ॥
सकृदपि यदि तादृक् सयमार्थ विधत्से ।
सुखममलमनत कि तदा नाश्नुषेऽलम् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगै)शास्त्रकर्म, लेखन कर्म, कृषिकर्म, विद्याकला, सुदर्शन कर्म, व्यापार कर्म व शिल्प इन छ प्रकार आजीविकाके साधनोके द्वारा(तनुधनसुतहेतो) शरीर धन व पुत्रके लाभके लिए (यादृक कर्म) जिस तरहका परिश्रम(करोषि) तू करता है (यदि) यदि(समयार्थ) सयमके लिये (सकृदपि) एक दफे भी (तादृक्) वैसा परिश्रम (विधत्से) करे (तदा) तो (किं) क्या (अमल) निर्दोष (अनन्तसुख) अनत सुखको (न अश्नुषे)नही भोग सके ? (अल) अवश्य तू भोग सकेगा ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि गृहस्थजन इस शरीरमे मोही होकर इस शरीरकी रक्षा व धन व सतानकी प्राप्तिके लिए दिन

अर्थात् स्वत्र चचल व अनिष्ट पदार्थोंमे लुभानेम दु ख ही प्राप्त होगा।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

असि मसि कृपि विद्या शिल्प वाणिज्य करके।
वपु धन सुत अर्थ श्रम करे मोह करके॥
असश्रम इक वार सयमार्थ करै तू।
शुचि सौख्य अनत भोग कर ही रहे तू॥६६॥

उत्थानिका—आगे कहते है जो सयमका साधन करते हैं वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं—

सुखजननपटूना पावनाना गुणानाम्।
भवति सपदि कर्ता सर्वलोकोपरिस्थ॥
त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्येह पुस।
स्वयमवनिरधस्ताज्जायते नाखिला किं॥६७॥

अन्वयार्थ--जो सयम पालन करता है वह (सपदि) शीघ्र (सर्वलोकोपरिस्थ) सर्व लोकके ऊपर सिद्ध क्षेत्रमे विरजमान होता हुआ (सुखजननपटूना) आत्मीक आनन्दको पैदा करनेमे कुशल ऐसे (पावनाना गुणानां) पवित्र गुणोका (कर्ता)करनेवाला अर्थात् अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणोमे परिणमन करनेवाला (भवति) रहता है। (इह) इस जगतमे(त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्य पुस)सुमेरु पर्वतके मस्तकपर बैठे हुए पुरुषके लिये (किं) क्या(अखिला अवनि। यह सकल पृथ्वी(स्वय) अपने आप ही(अधस्तात्)नीची (न जायते) नही होजाती हैं? अर्थात् अवश्य होजाती है।

भावार्थ---यहाँ आचार्यने दिखलाया है जो मुनि सयमका भले प्रकार अभ्यास करते हैं वे शुक्लध्यानके प्रतापसे सर्व कर्मबधनो को नाशकर व शरीरसे रहित होकर मात्र एक अपने आत्मीक सत्ताको स्थिर रखते हुए स्वभावसे ऊपर जाकर तीन लोकके ऊपर सिद्धक्षेत्रमे अनतकालके लिये ठहर जाते हैं। वहापर सर्व आत्मा के गुण पवित्र होजाते है और सर्व गुण अपने स्वभावमे सदृश परिणमन किया करते है। वहा न कोई ज्ञानमे बाधा होती है न वीतरागतामे बाधा होती है न वीर्यमे बाधा होती है। इसलिये यह आत्मा परम स्वतत्रतासे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिको भोग करता हुआ अपने आनन्दमे तृप्त रहता है तथा त्रिलोक पूज्य होजाता है। तीन लोकके प्राणी उसकी पूजा करते हैं उसीको परमात्मा, परब्रह्म व परमेश्वर मानते हैं। यहापर आचार्यने दृष्टान्त दिया है कि जो पुरुष परिश्रम करके पर्वतकी चोटीपर चढ जाता है वह स्वय ही सर्व जगतके प्राणियोसे ऊ चा होजाता है। उस पुरुषके लिये सारी पृथ्वी नीचे होजाती है। यहाँ यह भी भाव है कि जैसे उद्यमी पुरुष सुमेरु पर्वतपर चढनेसे सर्वोच्च होजाता है इसी तरह जो मोक्षमार्गपर चढता चला जता है और गुणस्थानोके क्रमसे उन्नति करता जाता है वह स्वय ही अपने गुणोकी वृद्धिके कारण औरोसे ऊ चा होता है। इसी तरह जब वह चलते २ मुक्त होजाता है तब वह परमात्मा होकर लोकाग्रमे बिराजमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि क्षणिक ससारकी सपदाके लिये अपना नर जन्म न खो देवें किंतु इस देहमे सयम पालनके लिये खूब परिश्रम करे तौ यह श्रम ऐसा सफल होगा कि इसे परमात्मा बना देगा और अधिक क्या चाहिये ?

श्री पद्मनंदि मुनि यतिभावनाष्टकमे कहते है—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुत पुण्यतो ।
वैराग्य च करोति य शुचितपो लोके स एक कृती ॥
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृत पीयते ।
प्रसादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपित ॥५॥

भावार्थ—पुण्यके उदयसे पवित्र कुलमे जन्म पाकर व उत्तम शरीरका लाभकर जो कोई शास्त्रको समझकर व वैराग्यको पाकर पवित्र तप करता है वही इस लोकमे एक कृतार्थ पुरुष है यदि वह तपस्वी होकर मदको छोड कर ध्यानरूपी अमृतका पान करता रहे तो मानो उसने सुवर्णमई महलके ऊपर मणिमई कलश चढा दिया है। अर्थात् आत्मध्यानी ही सच्चे तपस्वी हैं और वे ही कर्मोंको काटकर मोक्षके अधिकारी होते हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जो सयम पाले लोकके अग्र जावे ।
सुखकृत शुचि गुणका, परिणमन नित्य पावे ॥
जो जन श्रम करके मेरु ऊपर सिधारे ।
सव ही पृथ्वीको आप ही निम्न डारे ॥६७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस ससारचक्रमे सच्चा सुख नही मिल सकता।

मालिनी वृत्तम् ।

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदो ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जगमत्वम् ॥

दु खव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे ।
नित्य दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यति सर्वेगिन ॥
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो ।
यात्यानदकर पर स्थिरतर निर्वाणमेक पुर ॥१०॥

भावार्थ--इन दुखो रूपी हाथियोसे भरे हुए व हिंसादि पापोंके वृक्षोको रखनेवाले तथा खोटी गतिरूपी भीलोको पल्लियोके खोटे मार्गमे नित्य पटकनेवाले ससार वनमे सर्व ही प्राणी भटका करते हैं। इस वनके वीचमे जो चतुर पुरुष सुगुरुके दिखाए हुए मार्गमे चलना शुरू कर देता हैं वह परमानन्द माई उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाण रूपी नगरमे पहुँच जाता हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

सूर्यकिरण ठढी उष्ण हो चद्र बिम्ब ।
यदि सुरगिरि थिर भी हो या अथिर और कम्ब ॥
पर कभी न पावे आत्मसुख मूढ जीवा ।
दुखमय भववनमे जो भटकता अतीवा ॥६८॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि आत्माका स्वभाव शुद्ध है इसका सम्बन्ध ससार वासनाओसे नही है ।

शार्दूलविक्रीडित ।

कायै कर्मविनिर्मितैर्बहुविधै स्थूलाणुदीर्घादिभि ।
नात्मा याति कदाचनापि विकृति सबध्यमान स्फुट ॥
रक्तारक्तसितासितादिवसनैरावेष्टयमानोऽपि किं ।
रक्तारक्तसितासितागुणितामापद्यते विग्रह ॥६९॥

अन्वयार्थ--(कर्मविनिर्मितं) कर्मोंके उदयसे रची हुई (बहुविधं) नाना प्रकार की (स्थूलाणुदीर्घादिभि) मोटे,पतली, ऊची, छोटी आदि (कायै) देहोंके द्वारा (स्फुट सवध्यमान) प्रगटपने सम्बन्ध रखता हुआ (आत्मा) यह जीव (कदाचनापि) कभी भी (विकृति न याति) विकारी नही होजाता है अर्थात् अपने स्वभावको नही त्यागता है (कि) क्या (विग्रह) यह शरीर (रक्तारक्तसितासितादिवसनं) लाल, पीले, सफेद, काले वस्त्रोसे (आवेष्ट्यमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्तसितादि-गुणिताम्) लाल, पीले, सफेद, काले रग पानेको (आपद्यते) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ--यहाँ आचार्य यह दिखलाते है कि निश्चयनयसे अर्थात् वास्तवमे यह आत्मा शुद्ध है। इसने अज्ञानसे जो कर्म बाधे हैं उन कर्मोंके उदयसे इसके साथ कार्मण, औदारिक और तैजस शरीरोंका सम्बन्ध है। ये शरीर भी पुद्गल द्रव्यके रचे हुए हैं। इनमे मोह कर्मके उदयसे रागद्वेष, मोह भाव होते हैं। तथा नाम कर्मके उदयसे शरीर मोटा, पतला, लंबा व छोटा होता है। शरीरके सम्बन्धसे आत्माको दुबला, मोटा, बलवान, निर्बल व क्रोधी, मानी, लोभी आदिके नामसे पुकारते हैं। असलमे देखो तो आत्मा अपने स्वभावमे असख्यात प्रदेशी ज्ञान-दर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी है। आत्मा पुद्गलके सम्बन्ध होने पर भी आत्मा ही रहता है कभी भी पुद्गलमई नहीं होजाता है। यहा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे शरीर पर लाल, पीले, नीले, सफेद कैसे भी रगके कपडे पहनो वे कपडे शरीरके ऊपर ही ऊपर है। शरीर लाल, पीला, काला, सफेद नहीं होता है। इसी तरह कर्मोंके नानाप्रकारके सयोग होनेपर भी आत्मा

वास्तवमें किसी भी कर्मकृत विकारोंसे विकारी नहीं होजाता है। निश्चयसे आत्मा शुद्ध स्वभावमें ही रहनेवाला है ऐसा विचारवानको विचारना चाहिए।

ऐसा ही श्री पद्मनंदिमुनिने एकत्वाशीतिमें कहा है—

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥३५॥
नाम हि परं तस्मान्निश्चयात्तदनात्मकम् ।
जन्ममृत्यादि चाशेषं वपुधर्मं विदुर्बुधाः ॥

भावार्थ—जैसे विकारी होनेवाले मेघोंसे आकाशका स्वभाव विकारी नहीं होता है वैसे क्रोधादिक कर्मोंका संयोग होनेपर भी उत्कृष्ट तेजवाला आत्मा भी क्रोधी मानी आदि रूप नहीं होता। इस आत्माके स्वभावमें तो नाम भी भिन्न हैं क्योंकि चैतन्यप्रभुका कोई नाम नहीं है। जन्म मरण रोग आदि ये सर्व स्वभाव शरीरके हैं ऐसा ज्ञानीलोग मानते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

मोटे सूक्षम दीर्घ देह बहुविध हैं कर्मने जो रचे।
इनमें वसता आत्म हो न उनसा निजभाव आतम नचे ॥
काला पीला लाल श्वेत कपडा, जो देहको ढाकता।
काला पीला लाल श्वेत तनको, कबहू न कर डालता ॥६९॥

उत्थानिका—आचार्य और भी आत्माका स्वरूप कहते हैं—

गौरो रूपधरो दृढः परिवृढः स्थूलः कृशः कर्कशो ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षण्ढः पुमानंगना ॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यापायच्युतम् ॥७०॥

अन्वयार्थ--(त्व) तू (आत्मान) आत्माके (नित्य) अविनाशी (अमल) निर्मल (सर्वव्यपाच्युत्तम्) सर्व ससारिक दु ख जालो से रहित (ज्ञानमयस्वभाव) ज्ञानमई स्वभावको (विबुध्य) जान करके भी (मूढ) मूर्ख होकर (इद) इस (मिथ्या) झूठी (कल्पनम्) कल्पनाको (विदधासि) किया करता है कि मैं (गौर) गोरा हूँ (रूपधर) मैं सुन्दर हूँ (दृढ) मैं मजबूत हूँ (परिवृढ) मैं श्रीमान् हूँ (स्थूल) मैं मोटा हूँ (कृश) मैं दुर्बल हूँ (ककश) मैं कठोर हूँ (गीर्वाण) मैं देव हूँ (मनुज) मैं मनुष्य हूँ (पशु) मैं पशु हूँ (नरकभू) मैं नारकी हूँ (षढ) मैं नपु सक हूँ (पुमान्) मैं पुरुष हूँ (अगना) तथा मैं स्त्री हूँ ।

भावार्थ—यहा आचार्यने दिखलाया है कि आत्माका स्वभाव अविनाशी है जब शरीरादि पदार्थ नाशवत है, आत्मा ज्ञानमई है जब शरीरादि जड हैं, आत्मा निर्मल वीतराग है, जब क्रोधादि कर्म विकाररूप जड हैं, आत्मा सर्व आकुलता व दु खोसे रहित परमानन्दमई है जब कि शरीरादि व क्रोधादि सबध जीवको आकुलित व दु खी करनेवाला है । इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टी होता हुआ मिथ्याश्रद्धानके नशेमे अपनेको नाना भेषरूप माना करता है । जो अवस्थाएँ कर्मके निमित्तसे हुई हैं उनको ही अपना माना करता है अपने आत्माके असली स्वभावसे गिर जाता है । देव, मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नपु सक, गोरा, सुन्दर, बलिष्ट मोटा, दुबला, कठोर, आदि सब पुद्गलकी अवस्थाएँ हैं । जिस घरमे आत्मा रहता है उस घरकी अवस्थाएँ हैं । तौभी मोही जीव अपनेको उन रूप मान लेता है उसे आत्मज्ञानका श्रद्धान नही है ।

तात्पर्य कहने का यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को अलग छाट ले और जो अनात्मा है उसको अलग करदे। इसी प्रकारके विचारसे स्वानुभवकी प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव मोक्षका बीज है।

पद्मनंदि मुनि एकत्वाशीतिमे कहते है—

एकमेव हि चैतन्य शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
नावकाशो विकल्पाना तत्राखंडैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयसे देखा जावे तो यह आत्मा एक ही चैतन्यरूप है तथा इस अखड पदार्थमे अनेक दूसरे विकल्पोके उठानेकी जगह ही नही है कि मैं देव हू या नारकी हू। इत्यादि।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छद।

गोरासुन्दर वीर और श्रीमान हू थूल पतला कडा।
हू पशु नारक देव और मानव नारी पुरुष षट वा॥
मूरख मिथ्या कल्पना जु करता निज आत्म नहि वेदता।
जो है नित्य पवित्र ज्ञानरूपी जड़ काष्टकी शून्यता ॥७०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मुमुक्षु जीवको नित्य ही परमात्माका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये—

सर्वारंभकषायसगरहित शुद्धोपयोगोद्यतम्।
तद्रूप परमात्मनो विकलिल बाह्यव्यपेक्षातिग॥
तन्नि र्श्रयमकारणाय हृदये कार्य सदा नापरम्।
कृत्य क्वापि चिकीर्षवो न सुधिय. कुर्वन्ति तद्ध्वसक ॥७१

अन्वयार्थ--(सर्वारम्भकषायसगरहितम्) जो सर्व आरम्भ,

भीतर स्वतन्त्र हैं उनके विकाशके लिये किसी वाहरी प्रकाशकी व अन्य किसीभी सहायताकी जरूरत नही है। यह आत्मा पूर्णपने शुद्ध अनतज्ञान व अनतदर्शन से भरा हुआ है। मैं ऐसा ही हू इस प्रकारका अनुभव सदा करना योग्य है। यह स्वात्मानुभव ही आत्माको परमात्मा पदमे लेजानेवाला है। जो बुद्धिमान भेदविज्ञानी निपुण पुरुप हैं वे आत्मचिंतवनको छोडकर और कोई रागद्वेषवर्द्धक चिंतवन नही करते हैं, क्योकि परकी चिंता वन्धनको करनेबाली है, जो आत्माको मुक्तिमार्ग मे विघ्नकारक है। लौकिकमे भी बुद्धिमान लोग अपना जो उद्देश्य स्थिर कर लेते है उसके अनुकूल ही कार्य करते हैं उसके विरुद्ध कार्यसे सदा बचते रहते है।

श्री पद्मनदि मुनि निश्चय पचाशतमे कहते हैं--

अहमेवचित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जडत्वात् प्रीति सदृशेपु कल्याणी ॥४२॥
स्वपरविभागावगमे जाते सम्यक्परे परित्यक्ते।
सहजैकवोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वय सिद्ध ॥ ४२ ॥

भावार्थ--मैं ही चैतन्य स्वरूप हू तथा मेरेको चैतन्यका ही आश्रय है मैं और किसीका आश्रय नही लेता हू क्योकि मेरे सिवाय अन्य पदार्थ सब जड हैं तथा यह भी न्याय है कि समान स्वभाववालोमे ही प्रीति करनी योग्य है। जिस समय इस आत्माको अपना और परका स्वरूप अलग २ भलेप्रकार समझ मे आजाता है तब यह स्वय सिद्ध आत्मा पर पदार्थको छोडकर अपने ही स्वाभाविक एक ज्ञान स्वभावमे लवलीन हो जाता है।

वास्तवमे आत्मलीनता ही सच्ची सामायिक है

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द। 71

परमात्मा है सर्व मैल दूर नहिं चाह परकी करै।
शुद्धपयोगमई कषाय रहित नारम्भ परिग्रह धरै॥
सो ही शिवके हेतु नित्य चितमें ध्याओ नहीं और कुछ।
बुधजन निज उद्देश्य घातकारक करते नहीं कार्य कुछ॥७१

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरसे प्रीति करना है स
आत्माकी उन्नतिसे बाहर रहना है।

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्तिं विधत्ते यतो।
हेयादेयविचारशून्य हृदयो नात्मक्रियायामसौ॥
स्वार्थं लब्धुमना विमुंचतु ततः शश्वच्छरीरादरम्।
कार्यस्य प्रतिबंधके न यतते निष्पत्तिकाम सुधी॥७२

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (यः) जो कोई (शरीरकार्य
करणे) शरीरके कामके करनेमें (जागर्ति) जाग रहा
(असौ) वह (हेयादेयविचारशून्यहृदय) त्यागनेयोग्य व कर
योग्यके विचारसे शून्य मनवाला होता हुआ (आत्मक्रियायाम्
आत्मा के कार्यमें (वृत्ति न विधत्ते) अपना वर्तन नहीं रखत
है। (ततः) इसीलिये (स्वार्थं लब्धुमना) अपने आत्माके प्रयो
जनको जो सिद्ध करना चाहता है उसको (शश्वत्) सदा
(शरीरादरम्) शरीरका मोह (विमुंचतु) छोड देना चाहि
(निष्पत्तिकाम) अपनी इच्छाको पूर्ण करनेवाला (सुधी
बुद्धिमान पुरुष (कार्यस्य) अपने कामके (प्रतिबंधके) रोक
वाले कार्यमें (न यतते) उद्यम नहीं करता है।

भावार्थ-यहां आचार्य कहते हैं कि शरीर और आत्मा दो भिन्न
पदार्थ हैं। जिसको शरीरका मोह है वह रातदिन शरीरकी शोभ

करनेमे उसको पुष्ट करनेमे व उसको आराम देनेमे अपना समय व वल नष्ट किया करता है उसको आत्मोन्नतिकी तरफ ध्यान नही रहता है। उसका हृदय विषयभोगोमे ऐसा अन्धा हो जाता है कि उसको कर्तव्य अकर्तव्यका व त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यका विवेक नही रहता है। इसलिये जो अपने आत्माकी उन्नति करना चाहें उनको उचित है कि वे शरीरका मोह छोडे उसका आदर न करें उसको चाकरके समान रखकर उससे तपादिका साधन करे और अपना कार्य वनाले। जो वुद्धिमान पुरुष होते हैं। वे सदा इस वातकी सम्हाल रखते हैं। कि जो कार्य करना निश्चय किया गया है उसकी सफलताका ही उद्योग करे तथा उस कार्यके विरोधी किसी उद्यमको न करें। जव यह निश्चय है कि शरीरका मोह मनको आत्म कार्यसे हटाने वाला है तो विवेकीको आत्माके काम वनानेका ही ध्यान रखना चाहिए और इसलिये आत्म मनन करके स्वानुभव प्राप्त करना चाहिये, विना आत्मध्यानके कभी भी आत्माकी शुद्धि नही हो सकती है।

जवतक शरीर सम्बन्धी मोह नही छूटता तवतक आप्तहित नही हो सकता। श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्नसदोहमें कहते हैं—

मदमदनकषायारातयो नोपशान्ता।
न च विषयविमुक्तिर्जन्मदुःखान्न भीति।
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तो-
र्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै ॥१७॥

भावार्थ—जिस मानवके घमड व कामभाव व क्रोधादि शत्रु शात नही हैं व जिसका मन विषयोसे विरक्त नही हुआ है व

जिसको संसार के दुखोंमें भय नहीं है तथा जिसके चित्तमे शरीर के सुखमें वैराग्य नही भया है उसकी दीक्षा भी इस जगतमे भोगोंके लिये हैं मुक्ति पानेके लिए नहीं है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो जागे निज तन विलासपथमें सो मूर्ख जाने नहीं।
क्या हितकर क्या नाशकर सुकृतव निजआत्म करता नहीं॥
जो चाहे परमात्म धाम अपना तन मोह करता नहीं॥
बुध निजकारज सिद्धकाज उल्टा कब ही जु चलता नहीं॥७२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि बुद्धिमानको व्यर्थ कार्य न करना चाहिये।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैपीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथा।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम्॥७३॥

अन्वयार्थ—(गतघृण) दया रहित (अंतक) यमराज (भीत) जो मरणसे डरता है उसको (न मुंचति) छोडता नहीं है (ततः) इसलिये (वृथा) बेमतलब (मा भैपीः) डर न कर (अभिलषित) अपना चाहा हुआ (सौख्य) सुख (जातु) कभी (न लभ्यते) नही प्राप्त होता है इसलिये (त्वं) तू (इदं) इस सुखकी (मा अभिलाषी) इच्छा न कर (विगत) जो मर गया नष्ट होगया (शोचित) उसका शोच करने पर (न प्रत्यागच्छति) लौटकर नही आता है इसलिए (वृथा) बेमतलब (शोक मा कृथा) शोक न कर (प्रेक्षापूर्वविधायिन) समझकर काम करने वाले विद्वान (निरर्थम्) बेमतलब (कृत्य) काम (कथम्) किसलिये (विदधते) करेंगे?

भावार्थ—यहाँ आचर्यने वढी ही सुन्दर युक्तिसे यह समझा दिया है कि बुद्धिमान् प्राणीको न तो मरनेसे डरना चाहिए, न भोगोकी इच्छा करनी चाहिए और न वियोग हुई वस्तु का शोक करना चाहिये। जगतके प्राणी इन्ही भूलोमे फसे रहते हैं। यह वात जव निर्णयकी हुई है कि जव आयुकर्म समाप्त हो जायगा तव इस शरीरको आत्मा अवश्य छोड जायगा तव यह भय करना कि कही मरण न हो वडी भारी मूर्खता है। व कायरपना है। बुद्धिमान प्राणी कभी भी वे मतलव मौतसे डरता नही किन्तु वीर पुरुषकी तरह जव मरण आवे तव मरनेको तैयार रहता है। जब यह देखा जाता हैं कि ससारमे अधिकतर चाहे हुए इद्रियोंके विषय नही प्राप्तहोते हैं किन्तु जैसा न चाहो वैसा पदार्थ प्राप्त होजाता है तव फिर वृथा पदार्थोंके लिए तृषातुर व अभिलाषावान रहना अपने मनको क्लेशित रखना है। बुद्धिमान मनुष्य आगामी भोगोकी तृष्णासे क्लेशित नही होता है जो पुण्यके उदयसे पदार्थ प्राप्त होता है उसीमे सन्तोप कर लेता है। यह जव पक्का निश्चय है कि जो प्राणी मर गया वह फिर उसी शरीरमे आ नही सकता तव बुद्धिमान कभी भी अपने मरण प्राप्त माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, मित्र आदिका शोक नही करता है। शोर्में करनेसे परिणामोमे क्लेश होता है वह क्लेश यहा भी दुखी करता है व आगामीके लिए असाता-वेदनीयका वध करा देता है। इत्यादि वातोको विचार कर जो चतुर मानव है वे कभी भी निरर्थक काम नही करते है वे जिस कामको करते हैं उसका फल पहले ही विचार लेते हैं जिसका फल पहले ही विचार लेते है। जिसका फल होना निश्चय है उस ही कामको करते हैं।

अन्वयार्थ—(स्वस्थे) जो सुख अपने आत्मामे ही स्थित है (अकर्मणि) जो कर्मोंके उदयसे प्राप्त नही होता अथवा जो कर्मो के नाशसे प्रगट होता है(शाश्वते) जो अविनाशी है (विकलिले) व जो मल रहित निर्मल है(विद्वज्जनप्रार्थिते)जिस सुखकी विद्वान लोग सदा इच्छा किया करते हैं तथा जो (स्थिरधिया आत्मना) स्थिर भाव करनेवाले आत्माके द्वारा (रहसा हप्राप्ये) सहजहीमे प्राप्त होने योग्य है (विद्यमाने सति) ऐसा सुख अपने पास होते हुए (त्व) तू (अतविरस)जो अतमे रस रहित है(नश्वर)व नाशवत है ऐसे(बाह्य सौख्यम्)बाहरी इद्रियजनित सुखको(अवाप्त) प्राप्त करनेके लिये (किं) क्यो (खिद्यसे)खेद उठाता है (रे मूढ) रे मूर्ख(शिवमदिरे चरौ सिद्धे सति) महादेवजीके मदिरमे खाने को नैवेद्य मिलते हुए(भिक्षा मा भ्रम) भिक्षाके लिये मत भ्रमण-कर।

भावार्थ—यहांपर आचार्य कैसा सुन्दर कहते हैं कि जो वस्तु जो पास ही हो उसको न जानकर उस वस्तके लिये बाहर हुए खेद उठाना नितान्त मूर्खता है। कोई साधु महादेव मदिरमे रहता था वही जब उसको पेटभर खानेको मिष्टा मिल जावे तब उसको भिक्षाके लिये भ्रमण करना है कष्ट उठाना है। आत्माका स्वभाव आनद है यह है। पापरहित है। कर्मोंके नाशसे प्रगट होता है। आनदको सदा साधुजन चाहा करते हैं तथा यह आनन्द अपने उपयोगको अपनेमें स्थिर [illegible] प्राप्त होजाता है। जो अपने ही पास है व [illegible] दूसरे पदार्थकी जरूरत नही है व जो सदा ही [illegible] सच्चे सुखको मूर्ख जन नही पहचानते हैं

लाभके लिये अपने आत्माके भीतर प्रवेश नही करते हैं तथ बाहरी इन्द्रियजनित नीरस और अतृप्तिकारी सुखकी प्राप्ति लिये चेष्टा किया करते हैं वे वृथा ही कष्ट उठाते हैं, क्योंकि यदि परिश्रम करनेमे कदाचित् इच्छित बाहरी सुख प्राप्त भ होजावे तौभी उससे तृप्ति नही होती तथा वह ठहरता नहीं है वह शीघ्र नाश होजाता है। जिस किसीको अपने स्थानमें ही मनमोहन खाने को मिले और वह उसको तो न खावे किन्तु भीख मागता फिरे उसे भीखमे तो पूरा भोजन भी मिलना कठिन होगा और वह वृथाही खेद सहेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीवको अपने ही भीतर भरे हुए सुखसमुद्रकी खोज करं उसमे ही स्नान करना चाहिये व उसीके जलको पीना चाहिये उसीसे ही तृप्ति होगी और वही सदा पीनेमे भी आयगा उस जलका कभी वियोग नही होगा क्योंकि वह सुखसमुद्र अपने ही पास है और अपनेको अपनेमे मिल जाता है। इसलिये इन्द्रियोंके सुखकी वाछा छोड आत्मिक सुखके लिये अपने आपमे रहना ही हितकर है ।

श्री शुभचद्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं—

अतृप्तिजनक मोहदाववन्हेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्य जगुर्जिना ॥१२॥
अध्यात्मज यदत्यक्ष स्वसवेद्यमनश्वरम् ।
आत्माधीन निराबाधमनन्त योगिना मतम् ॥२३॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने कहा है कि जो सुख इद्रियोसे पैदा होता है वह तृप्त करनेवाला नही हैतथा वह सुख मोहरूपी दावानलको बढानेके लिये महा इंधनके समान है तथा दु खोकी परिपाटीका बीज है, जबकि अध्यात्मिक सुख इद्रियोकी पराधीनतासे रहित

है। मात्र अपने ही अनुभव गोचर है, अविनाशी है, स्वाधीन है, बाधारहित है तथा अनन्त है, योगियोंके द्वारा माननीय है।

वास्तवमे आत्मीक सुख जब अमृत है तब इंद्रियसुख खारे पानीके समान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो सुख अपने आत्म बीच वसता है मलरहित शाश्वता।
थिरभावोसे आपमे सु मिलता विद्वान नित चाहता ॥
फिर क्यो नीरस बाहरी क्षणिक सुख अर्थं जु कष्ट सहे।
शिवमदिरमे भोज्य सहज मिलते भिक्षार्थ भ्रम दुख सहे ॥७४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो थिर सुख पाना तो चाहे पर उपाय उल्टा करे उसको वह सुख कैसे मिल सकता है?

मालिनी वृत्तम्

अभिलषति पवित्र स्थावर शर्म लब्धु।
धनपरिजनलक्ष्मी य स्थिरीकृत्य मूढ ॥
जिगगिषति पयोधेरेब पार दुराप।
प्रलयसमयवीचि निश्चलीकृत्य शके ॥७५॥

अन्वयार्थ—(य मूढ) जो मूर्ख (धनपरिजनलक्ष्मीं) धन, बधुजन व सम्पत्तिको (स्थिरीकृत्य स्थिररख करके (पवित्र) निर्मल (स्थवर) अविनाशी (शर्म) सुख (लब्धु) पानेकी (अभिलषति) इच्छा करता है (शके) मैं ऐसी आशका करता हूं कि (एष) यह मूर्खजन (प्रलयसमयवीचि) प्रलयकालकी उठनेवाली तरगोको (निश्चलीकृत्य) निश्चल करके (पयोधे) समुद्रके (दुराप पार) न पारहोने योग्य पारको (जिगमिषति) जाना चाहता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि वह मानव महा मूर्ख है जो

अविनाशी, पवित्र सुख तो चाहे परन्तु उसके लिये अपने आत्मामे ध्यान करना छोडकर धनपरिवार परिग्रहको सचय करे और इन चचल वस्तुओको थिर रखना चाहे और यह भी चाहे कि थिर सुख मिल जावे। यह ऐसी ही मूर्खताकी वात है कि जैसे कोई प्रलयकालकी पवनसे उद्धत समुद्रको उसकी न निश्चल रहनेवाली तरगोको स्थिर करके उसे पार करना चाहे। थिर पवित्र सुख कभी भी इद्रियोके भोगोसे प्राप्त नही होसकता इद्रियभोगसे जो कुछ सुख होगा वह मात्र क्षणिक होगा व तृप्तिकारी न होगा तथा मैला होगा। क्योकि जिस धन परिवार व परिग्रहके आश्रयसे यह इद्रियसुख होता है वे सब पदार्थ चचल हैं व नाशवत हैं इसलिये इद्रियसुख भी चचल व नाशवत है। तृप्तिकारी अविनाशी सुख तो मात्र अपने आत्माके स्वभावमे है, वह तव ही प्राप्त होगा जब जगतके पदार्थोसे मोह छोडके निज आत्माका अनुभव किया जायगा। इन्द्रियोको भोगते हुए कभी भी थिर व पवित्र सुख नही मिल सकता है, वह तो आत्मसन्मुख होने ही पर मिलेगा। तात्पर्य यह है कि सच्चे सुखके लिये अपने आपमें ही खोज करना चाहिये। ऐसा ही श्री शुभचन्द्रमुनिने श्री ज्ञानार्णवमे कहा है—

अपास्य करणग्राम यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिक मतम्॥२४॥

भावार्थ—इन्द्रियोके ग्रामोको रोककर जो सुख स्वयम् (आत्मामे ही आत्माके ही द्वारा योगियोको प्राप्त होता है वही आत्मीक सुख है। इन्द्रियोका सुख तृष्णाके दुखोको बढानेवाला है जैसा वही कहा है—

देनेवाले हैं ऐसा (प्रोच्यन्ते) कह सकते हैं। (शर्मार्थिन) जो सुखके अर्थी है वे (सुधिय) बुद्धिमान प्राणी (दुःखोद्रेकविवर्धन) दुःखके वेगको बढानेवाले कार्यको (न कुर्वन्ति) नहीं करते है।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि इन्द्रियोंके भोगोंकी चाहनाए इस जीवके लिए महान शत्रुताका काम करती है। ये चाहनाए ऐसी प्रबल होती है कि इनको सह सकना कठिन होता है। तथा इनको जरा भी दया नही होती है, इनके कारण रात्रिदिन इस लोकमे भी आकुलता व शोक आदिके दुःख सहने पडते हैं। व तीव्र कर्म बाधकर परलोकमे दुर्गतिके कष्ट भोगने पडते हैं। जो इनको पुष्ट करते हैं उनको अधिकतर दुःख देती है। ये विषयरूपी शत्रु वास्तवमे इस जीवकी जन्म मरणरूपी परिपाटीको बढानेवाले हैं तब मोक्षके आनन्दको चाहनेवाले इन इन्द्रियोंके विषयोंको किस तरह ऐसा कह सकते हैं कि ये सर्व प्राणियोंको सुखके देनेवाले हैं ? । इनको सुखदायी कहना नितान्त भूल है। जिनसे उभयलोक कष्ट मिले उनको कोई भी बुद्धिमान सुखदायी नही मान सक्ता है। इसीलिए जो सुखके अर्थी बुद्धिमान हैं वे कभी भी ऐसा काम नहीं करते जिससे उल्टा दुःख बढ जावे। अर्थात् वे इन इंद्रिय विषयोंको बिल्कुल मुंह नही लगाते हैं। किन्तु इनसे विरक्त हो आत्मसुखके लिए आत्मानुभवका ही प्रयत्न करते है।

सुभाषित रत्नसदोहमे स्वामी अमितगति कहते हैं—

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतु ।
किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके ॥
नो शाश्वत प्रचुरदोपकर विदित्वा ।
पचेन्द्रियार्थसुखमर्थधियस्त्यजति ॥ ६८ ॥

लोकमें (धीधना) बुद्धिमान प्राणी (हितं हित्वा) अपने हित को छोड़कर (पुन) फिर नरक (स्वाहितं) कभी भी (अहित) दुःखदाई कामना (कुर्वन्ति) करते ?

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि यह जीव अपने भावों से ही अपना कल्याण कर लेता है तथा भावोंसे ही अपना बिगाड़ कर लेता है। जैसे भाव होते हैं वैसा काम होता है। शुद्ध भावोंसे कर्मोंकी निर्जरा होकर मोक्ष होजाता है तथा शुभ भावोंसे पुण्यबंध होकर स्वर्गादि शुभ गति प्राप्त होती है तथा अशुभ भावोंसे पाप बंधता है जिससे नरक आदिकी खोटी गति प्राप्त होती है ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष सदा ही शुद्ध भावोंमें रहनेका उद्यम करते हैं। जब शुद्ध भावोंमें परिणाम नहीं ठहरता है तब शुभ भावोंमें जम जाते हैं परन्तु वे अशुभ मलीन भावोंको कभी नहीं ग्रहण करते हैं। उनको तो दूरसे ही त्यागते हैं। बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो अपने हित अहित का विचार करें। जिन कार्योंसे अपना बुरा होना जानें उनको तो छोड़ दें व जिनसे अपना भला होना जानें उनको साधन करें। तात्पर्य यह है कि सुख शांतिकी प्राप्ति अपने आत्मानुभवसे ही होगी इसलिए विषयोंकी खोटी वासनाको त्यागकर बुद्धिमानको सदा आत्ममननमें ही उद्योगी रहना योग्य है।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र मुनि कहते हैं—

आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः ।
ममत्वरतचेतस्कः स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥
स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चरित्रं दर्शनं तथा ।
तपः संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

भूलोंसे छोटे या बड़े रोग पैदा होजाते हैं। तब गृहस्थ लोग उनके दूर करने के लिये औषधियां काममें लेते हैं कि वह रोग शीघ्र मिट जावे, अधिक न बढ़ जिससे कि शरीर बेआराम होजावे। इसी तरह मुनि या श्रावक यद्यपि सावधानीसे अपना आचरण पालते हैं तथापि कभी कभी किसी तरहके कारणोंके वश होकर चलनेमें देखनेका प्रमाद होजावे, बोलनेमें कठोर व कषाय युक्त वचन निकल जावे, भोजनमें स्वादिष्ट पदार्थकी लालसा होजावे, किसी स्त्रीको देखकर मनमें विकार होजावे, असुहावनी कृतिको देखकर मनमें अरतिभाव आजावे, सामायिक करते हुए धर्मध्यान न होकर किसी कारणसे आर्तध्यान होजावे इत्यादि दोष होजाना संभव है। तब वह मुनि या श्रावक प्रतिक्रमण करके तथा परमात्माके पवित्र गुणोंका स्मरण करके अपने भावोंको निर्मल करता है, मानो दोषोंके रोगोंको हटानेके लिये औषधि पीता है। ऐसा करनेसे दोषरूपी रोग मिटते रहते हैं, बढ़ने नहीं पाते। और वह आगामीके लिये सावधान रहता है। वास्तवमें यह प्रतिक्रमण एक तरहका स्नान है जो मनके मैलको व आत्माके पापोंको धोदेता है।

श्री पद्मनंदि मुनिने आलोचना पाठमें ऐसा ही कहा है —

पापं कारितवान्यदत्र कृतवानन्यैः कृतं साध्विति।
भ्रान्त्याऽहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ॥
काले संप्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुनः।
तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते स्वं निंदतस्ते पुरः ॥७॥

और अजीव भी हैं। संसारी जीव सब अशुद्ध हैं, क्योंकि इनमे ज्ञानकी कमी है, क्रोधादि है, क्लेश आदि भोगते हैं। यह अशुद्धता इसीलियेहै कि इनके साथ कर्मरूपी पुद्गलोका जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा अजीवके पाच भेदोंमेसे एक है, उनका बध है। इसीको पाप व पुण्य कर्मका बध कहते हैं। अजीव पाच हैं— पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इनमें पुद्गल मूर्तिक है, क्योंकि इसमें स्पर्श, रस गध, वर्ण, गुण पाए जाते हैं, शेष चार अमूर्तीक हैं। (सारी रचना जो हमारी पाचो इद्रियोंसे मालूम करनेमें आती है पुद्गलसे रची हुई है। हम शरीरसे पुद्गलको छूते हैं, मुखसे पुद्गलको खाते पीते व चवाते हैं, नाकसे पुद्गलको ही सू घते हैं, आखसे पुद्गलको ही देखते हैं, कानसे शब्दोको सुनते हैं जो पुद्गलसे बने हुए हैं। सूक्ष्म पुद्गल इद्रियोंके द्वारा ग्रहणमें नही आतेहैं तथापि उनके कार्य प्रगट हैं। उन कार्योंके द्वारा उनका होना समझ लिया जाता है। जैसे कर्म पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं इद्रियोंसे जाने नही जाते परतु ससारमें जीवोके भीतर अशुद्धता व दु ख सुखका भोगना देखकर अनुमान लगाते हैं कि पाप व पुण्यका अथवा कर्मोंका बध है। इस लोकमें जीव और पुद्गल एक दूसरेपर असर डालते हैं, हलन चलन करते हैं, तरह २ के कामोको करनेवाले ये दो ही बडे कार्यकर्ता हैं। बहुतसे पुद्गल अपने स्वभावसे काम किया करते हैं, जैसे आगकी गर्मीसे पानीका भाप बनना, बादलोका गिरकर पानी बरसना, धूप होना, छाया होना आदि कामपुद्गलोके द्वारा उनके स्वभावहीसे हुआ करते हैं,बहुतसे कामोको यह ससारीजीव करता है। जैसे—खेती करना, मकान बनाना, कपडाबुनना आदि २। तीसरा कोई एक ईश्वर करानेवाला नही है, न काम करने

भीतर २ वे अवश्य गिर जाते हैं। जिन कर्मोंके अनुकूल सामग्री होती हैं वेकर्मफल देकर व अनुकूल सामग्री विना फल दिये भी झड जाते है।

आस्रव और बंध तत्वसे यह ज्ञान होता है कि जीव अशुद्ध कैसे होता है। क्योंकि जबतक परमात्म स्वभावके निकट न पहुँचे तबतक संसारी जीवोंके मन वचन काय काम किया करते हैं और हर समय जैसे पुराने कर्म झगडते हैं वैसे नए पुण्य या पाप कर्म बंधते भी जाते हैं। यदि आत्माको कर्मबंधसे छुडाना हो तो संवर और निर्जरा तत्वको समझना चाहिये। कर्मोंके आने और बंधके रोकनेको संवर कहते हैं। संवरके लिए उद्यम करना चाहिये। जिन भावोंसे कर्म बंधते हैं उनको रोकना चाहिये। इस संवरके लिये हिंसादि पाँच पाप छोडकर अहिंसा सत्य आदि पाच व्रत पालना चाहिये,क्रोधादि भावोंको रोककर उत्तम क्षमा आदि दशधर्म पालना चाहिए,आर्तध्यान रौद्रध्यान रोककरधर्म-ध्यान शुक्लध्यान साधना चाहिये, प्राचीन बंधे हुए कर्मोंको अपने समयके पहले ही उनका बिना फल भोगे हुए दूर करने की रीति को निर्जरा तत्व कहते हैं- तप करनेसे अर्थात इच्छाओंको रोक कर आत्मध्यान व वीतराग भावका अभ्यास करनेसे कर्म झडते जाते हैं। सर्व कर्मोंके बंधसे छूटकर आत्माके पवित्र हो जानेका नाम मोक्ष तत्व है। मोक्ष अवस्थामे आत्मा सदा अपने ज्ञानानंदका विलास किया करता है। इन सात तत्वोंमे अजीव, आस्रव व बंध त्यागने योग्य हैं जबकि जीव, संवर, निर्जरा व मोक्ष ग्रहण करने योग्य हैं। परंतु निश्चयनयसे इन सात तत्वोमे दोही पदार्थ

हैं— जीव और अजीव । इन दोनोमेंसे जीवको ही ग्रहण करके उसके ही शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये इसीलिए आचार्य ने कहा है कि जीव अजीवसे भिन्न है ऐसा जानो, आस्रव बंधके कारणोंको रोको, सदा संवर और निर्जराका उपाय करो, स्वाधीनता रूप मोक्ष पानेकी उत्कंठा रक्खो तथा निश्चयनयसे एक अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्वको भेद विज्ञानके बलसे रागद्वेषादि भावोंसे भिन्न वीतराग विज्ञानमय विचारो और अनुभव करो । यही मार्ग सुख शांति पानेका तथा कर्मोंके बंधसे छूटनेका है । जबतक हम इस देहमें हैं हमें अपना समय इसी तरह पर बिताकर सफल करना चाहिए । यही मानव-जीवनका लाभ है । श्री पद्मनंदि मुनिने आलोचनाके पाठमें मुक्तिपदकी ही भावना की है जैसे—

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः ।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिला प्राप्ता मयानंतशः ॥
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदाम् ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव ! पूर्णां कुरु ॥

भावार्थ—हे देव ! मैंने इस संसारमें चिरकालसे भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना तथा इनके मध्यकी बहुत प्रकार योनियोंको अनंतवार पाया । इसलिये सिवाय मोक्षके देनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रयकी पदवीके और कोई वस्तु मेरे लिये अपूर्व नहीं है अर्थात् मैं सिवाय अभेद रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके और किसी वस्तुको नहीं चाहता हूँ, क्योंकि इसीसे ही मुक्ति प्राप्त होती है । इस कारण आप इसीकी पूर्ति कीजिये ।

वास्तवमे ऐसी२ भावना परिणामोको निर्मल करनेवाली हैं और सुख शाति प्रदान करनेवाली हैं।

मूल श्लोकानुसार छद गीता

सत् तत्व जीव अजीव जानत बध आस्रव रोकते।
करते सुसवर निर्जरा नित मुक्तिप्रिय अवलोकते ॥
देहादिभिन्न सुनिर्मल परमात्म तत्व सुध्यावते।
मम काल बीते हे प्रभो! वृप ध्यान समता पावते ॥४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्तम कार्य वही कर सकता है जिसका ससार वास समाप्त होनेको आया है व जो मुक्ति पानेके लिये शीघ्र ही अधिकारी होगया है—

पृथ्वीवृत छद।

कपायमदनिर्जय सकलसगनिर्मुक्तता।
चरित्रपरमोद्यमो जननदु खतो भीरुता ॥
मुनीन्द्रपदसेवना जिनवचोरुचिस्त्यागिता।
हृषीकहरिनिगहो निकटनिर्वृतेर्जायते ॥५॥

अन्वयार्थ—(कषायमदनिर्जय) क्रोधादि कपायोके मदको जीतना (सकलसगनिर्मुक्तता) सर्व परिग्रहका त्याग (चरित्र-परमोद्यमो) चारित्रके लिये गाढ प्रयत्न (जननदु खतो भीरुता) ससारके दु खोसे भय (मुनीन्द्रपदसेवना) मुनीश्वरोके चरणोकी सेवा (जिनवचोरुचि) जिनवाणीमे रुचि (त्यागिता) सर्व वस्तुका त्याग या एक देश त्याग अथवा दान करना और (हृषीक-हरिनिग्रहा) इद्रिय रूपी सिहको वश करना (निकटनिर्वृते) जिसके मुक्ति निकट है उस महात्माके (जायते) ये बातें प्रगट होती हैं।

जिन्होने क्रोधादि कषायोको ऐसा जीत लिया है कि सताए जानेपर भी किसीपर द्वेष नही करते हैं। अपने शत्रुकी भी आत्माका हित ही चाहते हैं। जो विद्वान् व माननीय होनेपर भी कभी घमड नही करते। कही तिरस्कार होजाय तो जरा भी उदास नही होते। जो कभी कपट या मायाचार नही करते मनमे जो होता है वही वचनसे कहते, वचनसे कहते वही क्रिया करते हैं। जो लोभके यहातक त्यागी हैं कि अनेक प्रलोभनोके कारण मिलनेपर भी वीतराग भावसे नही हटते। जिनका निरतर यह उद्यम रहता है कि हम स्वरूपाचरण चरित्रमे डटे रहें अपने निज आत्माका अनुभव करते रहें, जिनके मनमे चार गतिरूप ससार महाभयकर आकुलताका समुद्र दीखता है, सदा यह खटका रखते हैं कि यह मेरा आत्मा कही इस गोरखधधेमे न फस जावे। जो अपने गुरुओकी सेवा इसीलिये करते रहते हैं कि गुरु उनके चारित्र-की सम्हाल रखते और उनको सदा मोक्ष मार्गपर भले प्रकार चलनेके लिये उत्तेजना देते व सुधार करते है। जो जिनवाणीको तत्वविचारमे परम उपयोगी समझकर उसका निरतर वडे प्रेमसे अभ्यास करते हैं। जो अपने आत्मीकशुद्ध भावोके सिवाय सर्व पर भावोको त्याग देते है या जो निरतर जीवरक्षा करके अभयदान देते व धर्मोपदेश देकर ज्ञानदान देते हैं, व जिनके वशमे पाचो इद्रिया रहती है। इसीसे वे जिन या जितेन्द्रिय होते हैं ऐसे साधु महात्मा भावलिगी मुनि होते है। वे यातो उसी जन्मसे या दो चार दस जन्ममे ससारसे मुक्त होजाते है। आचार्यके कहनेका मतलव यह है कि इन सब बातोको बडा दुर्लभ व परम उपयोगी समझना चाहिये और जब इनमेसे कोई या सब बातें प्राप्त होजावें तो बडा उत्तम समय मानना चाहिये और प्रमाद छोडकर अपने हितमे दृढ़ रहना चाहिये। जो पुरुषार्थी होते हैं

वे ही साधु निजानन्द भोगते हुए अनंत सुखके अधिकारी होजाते हैं।

श्री पद्मनंद मुनि यतिभावनाष्टकमें मुनिका स्वरूप कहते हैं—

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनम् ।
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलीम् ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गताः ।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः ॥१॥

भावार्थ—जो साधु महाव्रतोंको लेकर, निर्मलआत्मा के तत्वको समझकर तथा वनमें जाकर सर्व ही मोह कर्म वशसे पैदा होनेवाले अनेक विकल्पोंको छोड़ करके मन, श्वासोच्छ्वास और आत्मा तीनोंकी निश्चलतासे एकतान होते हुए आनंदको भोगते हुए पर्वतके समान स्थिर रहते हैं वे सब परिग्रहके त्यागी निर्ग्रन्थ साधुविजय प्राप्त करते हैं अर्थात् कर्मोंको जीतकर परमात्मा, परमेश्वर व परम ब्रह्म होजाते हैं—

हरिगीतानुसार छन्द गीता

कुकषाय अरिको चूरना अरु सब परिग्रह त्यागना ।
चारित्रमें उद्यम घना संसार क्लेश निवारना ॥
आचार्य पदका सेवना जिनवाणिमें रुचि धारना ।
इन्द्रिय विजय अर त्याग हो ढिग मोक्षका जब आवना ५

उत्थानिका—आगेभावना भाते हैं कि शत्रु मित्र आदिमें मेरा भाव समता भाव को भजे क्योंकि यही समता निर्जराका कारण है।

मदाक्रांता ।

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बांधवे वा रिपौ वा ।
मूर्खौघे वा बुधसदसि व पत्तने वा वने वा ॥

सपत्तौ वा मम विपदि वा जीवते वा मृतौ वा ।
कालो देव ! व्रजतु सकल कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्रदेव ! (मम) मेरा (सकल) सर्व (काल) समय (विद्विष्टे वा) मेरेसे द्वेष करनेवालेमे, (प्रशमवति वा) अथवा मेरे ऊपर शात भाव रखनेवालेमे, (बाधवे वा) बन्धुमे (रिपौ वा) अर्थात् शत्रुमे (मूर्खौघे वा) मूर्खोके समुदायमे (बुधसदसि वा) अथवा बुद्धिमानोकी सभामे (पत्तने वा) नगरमे (वने वा) अथवा जगलमे (सपत्तौ वा) धनादिकी प्राप्तिमे (विपदि वा) अथवा आपत्तिमे (जीविते वा) जीनेमे (मृतौ वा) अथवा मरनेमे (तुल्यवृत्तिम्) समान रूप या समता रूप वर्तन (कुर्वत) करते हुए (व्रजतु) वीते ।

शिखरिणी छन्द ।

सुखे वा दु खे वा व्यसनजनके वा सुहृदि वा ।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृपदि वा॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यातु दिवसा ।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते ! वाक्यमनघम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(जिनपते) हे जिनेन्द्र (सुखे वा) सुखमे (दु खे वा) अथवा दु खमे (व्यसनजनके वा) आपत्तिमे डालने वाले शत्रुमे (सुहृदि वा) अथवा मित्रमे (गृहे वा) घरमे (अरण्ये वा) अथवा जगलमे (कनकनिकरे वा) सुवर्णके ढेरमे (दृषदि वा) अथवा पाषाणमे (प्रिये वा) किसी प्रिय या मनोज्ञ वस्तुमे (अनिष्टे वा) अथवा किसी अमनोज्ञ वस्तुमे (समधिय) समता बुद्धिको रखते हुए तथा (तव) आपके (अनघम्) पाप रहित या पवित्र

(वाक्यम्) वचनको (स्वान्ते) अपने मनमे (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवना) दिन (यांतु) वीतें।

भावार्थ—इन दो श्लोकोमे आचार्यने सामायिकके स्वरूपको दिखला दिया है। वास्तवमे समताभावको ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असलमे तब ही जगता है जब निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे और व्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखनेसे हरएक पदार्थका मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभावमे देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिसके पदार्थ की भिन्न २ अवस्थाओ को व पार्थके भेदोको व असली हालतपर पहुचने के साधनोको व उसके अशुद्ध स्वरूपको देखा जा सके। जैन सिद्धांतने यह आवश्यक बताया है कि दोनो नयोंसे पदार्थोंको देखना चाहिये जैसा कहा है—

व्यवहारनिश्चयो य प्रबुद्धय तत्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया सएव फलमविकल शिष्य ॥
(पुरुपार्थ०)।

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोको समझकर मध्यस्थ या वतरागी होजाता है या किसी एक नयके पक्षपातसे रहित होजाता है वही जिनवाणीको समझनेके पूर्ण फलको प्राप्त करता है।

यह जगत व्यवहारनय (PRACTICAL POILT OF VIEW) से देखते हुए अनत भेदरूप विचित्र दिखलाई पडता है। यह राजा है यह रक है, यह स्वामी यह सेवक है, यह धनवान है

यह निर्धन है, यह सुन्दर है यह कुरूप है, यह बलवान है यह निर्बल है, यह विद्वान् है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वदनीय है यह वदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बाधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोगहै, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह अग्रेज है यह फ्रासीसी है यह अमेरिकन है यह आफ्रिकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्रि है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चद्र है, यह स्वर्ग है यह नर्क है, यह स्वदेश है यह परदेश है, यह भरत है यह विदेह है, यह घर है यह जगल है, यह वन है यह उपवन है, यह सुवर्ण है यह काच है, यह रत्न है यह पाषाण है, यह महल है यह स्मशान है, यह फूल है यह कटक, यह शय्या है यह भूमि है, यह चादी है यह लोहा है, यह तावा है यह मिट्टी है, यह निमल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहारनयकी दृष्टिमे हैं। यही दृष्टि रागद्वेष मोहका कारण है। जिन चेतन पदार्थोंसे अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बधु, पशु आदिसे अपना स्वार्थ सधता है अथवा जिन अचेतन पदार्थोंमे अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन, सामान

आदिसे अपना मतलव निकलता है उनमे तो राग होता है तथा जिन पुरुषोमे व स्त्रियोसे अपने स्वार्थ साधनमे हानि पडती है अथवा जो घर, वस्त्र, वर्तन या सामान अपने चित्तको कष्टप्रद भासते हैं उनसे द्वेष पैदा होजाता है । व्यवहारनयकी दृष्टि से देखते हुए अहकार व ममकार पैदा होते हैं, मैं राजा हू , मैं धनवान हूँ, मैं बडा हूँ, मैं दीन हूँ,मैं दुखी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं निरोगी हूँ, मैं सुन्दर , मैं कुरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, इत्यदि अहवुद्धि होती है । यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेराहै, यह ग्रथ मेरा है, यह मदिर मेरा है इत्यादि ममकार वुद्धि पैदा होती है। इस अहकार ममकारके द्वारा वर्तन करते हुए चारो कषायोकी प्रवलता होजाती है । कषायोके द्वारा तीव्र कर्मका वध होजाता है और यह मोही प्राणी ससारके झझटोमे व सुख तथा दुखमे उलझा रहता है, कभी अपने सच्चे सुखको व अपनी सच्ची शातिको नही पाता है ।

निश्चय नयमे देखते हुए ये सव ऊपर लिखित भेद नही दीखते हैं । ये सब भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्योंके निमित्तसे हैं । वस जो निश्चयमे देखता है उसे सर्व ही जीव ससारी या सिद्ध, नारकी, देव, पशु, मनुष्य, छोटे, वडे, राजा, रक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्वभावमे ही दिखते हैं । सव ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्यके धारी परमात्मारूप ही दिखते हैं । आप भी अपनेको परमात्मारूप दिखता है, अन्य सब भी परमात्मारूप दिखते है । तथा सव पुद्गल स्पर्श, रस, गधवान अजीवरूप एकसे दिखते हैं । इस दृष्टिसे देखते हुए ही समताभावकी जागृति होती है, रागद्वेषका अभाव होता है,

शत्रुमित्रकी कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व पदार्थका भेद निकलता है, इष्ठ व अनिष्टका द्वैत मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभावको पैदाकरती है। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्तीने द्रव्यसग्रहमे कहा है—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया ससारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥

भावार्थ—व्यवहारनयसे १४ मार्गणाके भेद कि यह अमुक गतिवाला है यह अमुक इन्द्रियवाला है इत्यादि अथवा १४ गुण-स्थानके भेद कि यह मिथ्याती है यह सम्यक्ती है, यह साधु है यह केवली है इत्यादि ससारी जीवोमे दिखते हैं परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे देखते हुए सर्व ही जीवशुद्ध एक रूप परमात्मा हैं। समताभाव लानेके लिए हमको व्यवहारनयसे देखना बन्द करके निश्चयनयसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जो साधु या गृहस्थ सामायिकमे तन्मय होते हैं वे उपसर्ग करनेवालेपर व प्रशसा करनेवालेपर समताभाव रखते हैं। वीत-राग भावका साधक निश्चयनयके द्वारा अवलोकन करता है। तत्व विचारके समय आत्मध्यान जगानेके लिए निश्चयनयका आश्रय ही कार्यकारी है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार कलशमे कहा है—

इदमेव तात्पर्यं हेय शुद्धनयो नहि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्यागाद्बन्ध एव हि ॥

भावार्थ—मतलब यही है कि शुद्ध निश्चयनय भी छोडना न चाहिए क्योकि जबतक इसका सहारा होगा तबतक कर्मका बंध न होगा तथा इस नय के त्याग होते ही कर्मका बंध होगा।। दोनो श्लोकोमे आचार्यने निश्चयनयको प्रधान करके समताभाव.

का स्वरूप दिखलाया है। यह सच्ची तत्त्वभावनाका एक प्रकार है।

वास्तव मे समताभाव लानेके लिए ऐसी ही भावना कार्यकारी है। श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पचाशनमे कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्ध ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम् ।
जनयति हेम्नो हैम लोहाल्लोह नर कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्माको शुद्ध स्वरूपमय ध्यात है वह शुद्ध आत्माको पाता है तथा जो अशुद्धरूप अपनेको ध्यात है वह अशुद्ध ही आत्माको पाता है जैसे कोई मनुष्य सोनेसे सोनेका कडा व लोहेसे लोहेका कडा बना लेता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता।

द्वेषकारी शातिधारी वधुमे अर शत्रुमे।
मूर्खजन वा पडितोमे शुभ नगर वा वनोमे॥
सम्पत्तिमे वा विपत्तिमे, वा जन्ममे वा मरणमे।
हे देव! मेरा काल बीते भाव समता धरणमे॥६॥
सुखमे वा दुखमे वा क्लेशकर अरि मित्र मे।
घरमे अरणमे कनक ढेरी और लोष्ट पाषाणमे॥
प्रिय वस्तु वा अप्रिय रहो समदिवस हो समबुद्धिमे।
हे जिनपते! तव निर्मल वच सदा धारू हृदयमे॥७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उत्तम कार्य करनेवाला ऊची गतिको व नीच कार्यकरनेवाला नीची गतिको जाता है—

(शार्दूलविक्रीडित छद)

ये कार्य रचयति निद्यमधमास्ते याति निद्या गतिम्।
ये वद्य रचयति वन्द्यमतयस्ते याति वद्या पुन ॥

ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृह विदधत कूप खनतस्त्वध
कुर्वन्तीति विबुध्य पापविमुखा धर्मं सदा कोविदा ८

अन्वयार्थ--(ये) जो (अधमा) नीच लोग (निंद्यम्) निन्दाके लायक खराब (कार्य) काम (रचयन्ति) करते हैं (ते) वे (निंद्या) निंदनीय या बुरी (गतिम्) गतिको (याति) पहुचते हैं (पुन) परन्तु (ये) जो (वद्यमतय) प्रशसनीय बुद्धिधारी (वद्य) प्रशसा के लायक उत्तम कार्यको (रचयन्ति) करते हैं ते, वे (वद्या) माननीय या उत्तम गतिको (याति) जाते हैं जैसे (सुधागृह) राजमहलको (विदधत) वनानेवाले (ऊर्ध्व) ऊपरको (तु) परन्तु (कूप) कुएको (खनत) खोदनेवाले (अध नीचेको (याति) जाते हैं (इति) ऐसा (विवुध्य) भले प्रकार जानकर (पापविमुखा) पापोसे मु ह मोडनेवाले (कोविदा) बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्मं) धर्मको (कुर्वन्ति) साधते रहते हैं ।

भावार्थ--इस श्लोकमे आचार्यने दिखलाया है कि हरएक जीव अपने भले या बुरेको जिम्मेदार है । जो जैसा कार्य करता है वह वैसा होजाता है । इस ससारी जीवके पास मन वचन काय ये तीन पाप तथा पुण्यकर्मके आनेके द्वार हैं । जब ये शुभ कार्योमे वर्तते तब मुख्यतासे पुण्यकर्म आते हैं और जब ये अशुभ कार्योमे वर्तते हैं तब पापकर्म आते हैं । यह जीव हरसमय अपने शुभ या अशुभ भावोके अनुसार पुण्य तथा पापकर्मोको बाधता रहता है । साधारण रूपसे आयुकर्मको छोडकर ज्ञानावरणादि सात कर्मोको नित्य बाधता रहता है । आयुकर्मको विशेष कालमे अपनी भोगनेवाली आयुके आठ त्रिभागोमेसे किसीमे या मरणके पहले बाधता है । आयुकर्मके अनुसार ही यह जीव चार गतियोमेसे किसी गतिमे जाता है । एक मानवकी

अपेक्षा देवगति ही ऊची है नरकगति व पशुगति नीची है व मानवगति बराबरकी है। यदि उच्च भाव होगे तो ऊची आयुको नीच भाव होगे तो नीच आयुको, मध्यम भाव होगे तो मध्यम आयुको बाधकर तदनुसार गतिमे जाता है। जो रौद्रध्यानी हिंसक, दुष्कर्मी है वह नर्कायु बाध नर्कको, जो आर्तध्यानी दु खित भावधारी है वह तिर्यंच आयु बाधकर पशु गतिको, जो धर्मध्यानी है वह देव आयु बाधकर देव गतिको, जो कोमल परिणामी है वह मनुष्य आयु बाधकर मनुष्य गतिको जाता है। परन्तु जो शुक्लध्यानको आराधता है और गुणस्थानोमे चढता हुआ अर्हंत केवली होजाता है वह कोई भी आयु न बाधकर सब कर्मोसे छूटकर शुद्ध परमात्मा होजाता है। इस लोकमे भी देखा जाता है कि जो लोग परोपकार, दान, पूजा, गुरु सेवा, आदि शुभ काम किया करते हैं उनकी प्रतिष्ठा व मान्यता होती है तथा जो परका अपकार, परकी बुराई, अन्यायके विषयोमे प्रवृत्ति हिंसककर्म, चोरी, आदि बुरे काम करते हैं वे निन्दायोग्य व बुरे समझे जाते हैं।

(यहाँ दृष्टात दिया है कि जो लोग राजमहल बनाते हैं वे दिनपरदिन ऊपरको चढते जाते हैं परन्तु जो कुआ खोदते हैं वे दिनपरदिन नीचे धसते जाते हैं।)

इसलिये बुद्धिमानोको चाहिए कि सदा धर्मके सेवनमे लगे रहें। जो सम्यकदर्शनपूर्वक धर्मका सेवन करेंगे वे इसलोक तथा परलोक दोनोमे सुख पाएगे।

वास्तवमे जैनधर्म वीतराग विज्ञानमय है। इसकी हरएक धर्मक्रियामें आत्माके गुणोका ध्यान आता है। आत्मा सुखशाति मय है, इससे धर्मसेवन करते हुए सुखशाति तो तुर्त प्राप्त होती

है तथा अन्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे आत्मबल बढता है। तथा पापकर्मोका रस कम होनेसे व पुण्यकर्मोंका रस बढनेसे सासारिक क्लेश घटते हैं और सासारिक सुख बढते हैं, तथा तीव्र आपति पडनेपर धैर्यकी प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीरमें रहते हुए ही प्राप्त होते हैं, इसलिए जो धर्मका सेवन करते हैं वे परलोकके लिए उत्तम आयु बाधकर शुभ गतिमें जाते हैं, ऐसा सलझकर हम सबको इस पवित्र जैन धर्मको शरणमें सदा रहकर व इसे निरतर आराधनकर इसलोक तथा परलोकको प्रशसनीय बनाना चाहिये—

श्री शुभचन्द्राचार्य श्री ज्ञानावर्णवमें लिखते हैं—

(मालिनी छन्द)

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट-
स्त्रिदशपतिमहर्द्धि प्राप्तुमेकान्ततो वा ।।
यदि चरमपुमर्थं प्रार्थनीयस्तदानी ।
किमपरमभिधेय नाम धर्म विधत्त ।।२३।।

भावार्थ—यदि तुझे नरकमे जानेसे रुकना अति प्यारा है, व यदि तू इन्द्रकी महा विभूतिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा यदि तू चारो पुरुषार्थोमेसे अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थको करना चाहता है तो तुझसे और अधिक क्या कहूँ तू एकमात्र धर्म ही का साधन कर।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

जो निद्यजन दुष्कर्म करते निन्द्य गतिमे जात हैं।
जो सन्तज़न शुभ कर्म करते उच्च गतिको पात हैं।।

उन द्रव्योकी जो अवस्थाए होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं । अवस्थाए कभी भी थिर नही रह सकती हैं । हमसबको अवस्थाए ही दीखती हैं तब ही यह रातदिन जाननेमे आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई । राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होने वाले हैं । करोडोकी सम्पत्ति क्षणभर मे नष्ट होजाती है । बडा भारी कुटुम्ब क्षणभरमे कालके गाल मे समा जाता है,यौवन देखते२ विलय होजाता है, बल जरासी देरमे जाता रहता है । ससारके सर्व ही कार्य थिर नही रह सकते हैं । जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यों के लिए उद्यम नही करता है । वह इन्द्रपद व चक्रवर्तीपद भी नही चाहता है क्योकि ये पद भी नाश होनेवाले हैं । इसलिए वह तो ऐसे कार्यको सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो । वह एक कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभावका लाभ है । जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र होजाता है फिर कभी मलीन नही हो सकता और तब यह अनन्तकालके लिए सुखी हो जाता है । मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमे परिश्रम तो बहुत पडे, पर फल कुछ न हो । बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देनेवाले ही कार्यो का उद्यम करते हैं । इसलिए सुखके अर्थी जीवको आत्मानन्दके लाभका ही यत्न करना उचित है ।

सुभाषितरत्नसदोहमे अमितगति महाराज कहते हैं—

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो ।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ।।

(आपत्तिभिर्वर्जिताम्) सर्व आपत्तियोंसे रहित (नित्यनिरतरोन्नतसुखा) व सदा ही बिना अन्तरके उच्च सुखको देनेवाली (मुक्ति) मुक्तिको (कोपि) कोई भी (कषायमोहितमति) कषायसे बुद्धिको मूढ बनानेवाला (प्राणी) मानव (तत्वतो) तत्त्वदृष्टिसे या वास्तवमे (नो बुध्यते) नही समझता है। आचार्य कहते है फिर वह (अनुत्तमामृमुक्ति मुक्ता) ऐसी मुक्तिको जिसके समान जगतमे कोई उत्तम पदार्थ नही है त्याग कर (अपरथा) उससे विरुद्ध (ससृतौ) ससारमे (किं) क्यो (रज्यते) राग करता है।

भावार्थ—यहापर आचार्यने बताया है कि जिसकी बुद्धि बिगड जाती है वह हितकारी पदार्थको छोडकर बाधाकारी पदार्थोंको लेता फिरता है। यदि किसी मूर्खको एक हाथसे अमृत व एक हाथसे सूखी रोटी दीजावे तो अमृतको छोडकर उस रोटीको ही लेलेता है क्योकि उसको यह विश्वास नही है कि अमृतमे क्या गुण है। इसी तरह अज्ञानी प्राणीको यदि श्री गुरु एक तरफ तो मोक्षका स्वरूप बतावे, दूसरी तरफ ससारका स्वरूप बतावे और यह समझावे कि ससार जब जन्म, मरण, शोक, भय, रोग, वियोगादि उपद्रवोसे रातदिन भरा है तब मोक्ष इन सर्व आपत्तियोसे बिल्कुल दूर है। ससार जब मलीन व आकुलतामय है तब मोक्ष पूर्ण निराकुल व नित्य परमोत्तम सुखको लेनेवाला है तब भी वह मूर्ख अपनी अनादिकालीन आदतके अनुसार अनतानुबधी कषायसे अन्धा होता हुआ ससारहीमे राग करता है। मोक्षकी तरफ बिलकुल भी अपनी रुचि नही पैदा करता है। यही कारण है जो अनेक जीव धर्मोपदेशको सुनते हुए भी नही भीजते हैं। रातदिन दूसरे प्राणियो का मरण देखते हुए भी अपने कल्याणका उपाय

नही करते हैं । यह सब मोहका माहात्म्य है । तथापि जिसकी समझमे यह रहस्य आगया है कि समार त्यागने योग्य है व मोक्ष ग्रहण करनेयोग्य है उसको तो फिर प्रमादके वशीभूत नही होना चाहिए और निरन्तर आत्मानुभवका उद्यम करके इसलोक तथा परलोकमे सुखी रहना चाहिए ।

स्वामी अमितगतिने ही सुभाषितरत्नसदोहमे कहा है—
विचित्रवर्णाचितचित्रमुत्तम यथा गत क्षो न जनो विलोकते ।
प्रदंश्यमान न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम् ।१४५

भावार्थ—जैसे अन्धा मनुष्य नाना प्रकार वर्णो से बने हुए सुन्दर चित्रको नही देख पाता है. इसी तरह नाना प्रकार उत्तम तत्वोसे भरे हुए जिनेन्द्रके मतको दिखलाए जानेपर भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव नहीं समझाता है, यह सर्व मोहका तीव्र वेग है ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । 81

है स सार मलीन क्लेशकारी नाना उपद्रव भरा ।
सर्व आपत्ति विहीन मोक्षशाश्वत् परमोच्च वर सुखकरा ॥
है जो मोह कषाय बुद्धिधारी नहिं बूझता सत्यको
सर्वोत्तम सुख मोक्ष छोड रमता ससार नि सत्यको ॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाहरी पदार्थोपर इच्छा रखनेसे पापका सचय होता है ।

रे दु खोदयकारण गुरुतर बध्नति पाप जना ।
कुर्वाणा बहुकांक्षया बहुविधा हिंसापरा षट्क्रिया ॥
नीरोगत्वाचकीर्षया विदधतो नापथ्यभुक्तीरमी ।
सर्वांगीणमहो व्यथोदयकर किं याति रोगोदयम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(रे) अरे ! बड़े खेदकी बात है कि (जना) जगके

प्राणी (वहुकाक्षया) तीव्र विषयभोगोकी इच्छाके वश होकर (वहु-विधा) नाना प्रकारकी (हिंसापरा) हिंसाको वढानेवाली (षट क्रिया) असि, मसि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छ तरहकी आजीविका सम्बन्धी क्रियाओको (कुर्वाणा) करते हुए (दु खो दयकारण) दु खोकी उत्पत्तिके कारण (गुरुतर) ऐसे भारी (पाप) पाप कर्मको (वध्नति) बाँधते रहते हैं। (नीरोगत्वचिकीर्षया) रोग रहित होनेकी इच्छा करके (अमी) ये प्राणी (अपथ्यभुक्ती) अपथ्य भोजनोको (विदधत) करते हुए (अहो) अहो ! (किं) क्या (सर्वांगीणम्) सर्व अ गमे (व्योदयकर) कष्टकोपैदा करनेवाले (रोगोदयम) रोगकी उत्पत्तिको (न याति) नही प्राप्त होगे?

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने वताया है कि जो सच्चे सुखकी वाँछा रखते हैं उनको उसका सच्चा उपाय छोडकर उससे विरुद्ध उपाय नही करना चाहिये। सच्चा सुख आत्मज्ञान व आत्म ध्यानसे होताहै। वह ध्यान परिग्रह त्यागसे भले प्रकार होसकता है। जो सच्चे सुखको चाहकर भी दु खोको देनेवाले पापोको नाना प्रकार आरम्भ करते बाँधते रहते हैं उनको सुख कभी प्राप्त नही होसकता। जो ववूल बोता है उसको काँटे ही मिलेंगे, उसको आमके फल कभी नही मिल सकते हैं। जो पापोका सचय करेगा उसको दु ख ही मिलेगा उसको सुखका लाभ कैसे होसकता है। इसपर दृष्टाँत दिया है कि जैसे कोई मानव निरोग रहना चाहे परन्तु बदहजमी करनेवाले ऐसे भोजनोको खाया करे तो फल उल्टा ही होगा अर्थात् रोग मिटानेकी अपेक्षा रोग बढ जायगा। रोगके बढनेसे सारे अग मे भारी कष्टोको भोगना पडेगा।

इसलिए बुद्धिमान प्राणीको सुविचार करके वही काम करना

योग्य है जो उसके कामके सिद्ध करनेमें बाधक न हो। सुखके लिये धर्मका सेवन करना जरूरी है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

अवति निखिललोकं यः पितेवादृतात्मा।
दहति दुरितराशिं पावकेवेन्धनौघम्॥
वितरति शिवसौख्यं हन्ति संसारशत्रुं।
विदधति शुभबुद्ध्या तं बुधा धर्ममत्र॥९९०॥

भावार्थ—बुद्धिमान लोग यहाँ उसी धर्मको शुभ बुद्धिसे धारण करते हैं जो आदर किया हुआ सर्व लोगोंको पिताके समान रक्षा करनेवाला है, जो पापके ढेरको इस तरह जलाता है जिस तरह अग्नि ईंधन के ढेरको जलाती है, जोसंसाररूपी शत्रुको नाश करता है व जो मोक्षके सुखको देता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

वर तृष्णा बहु करत कार्य हिंसक पट् रूप उद्यम नये।
बांधत पाप अपार दुःखकारी, नहिं बूझते सत्य थे॥
जो चाहे नीरोगता पर भखे, भोजन बहुत कष्ट कर।
पावे रोग महान देह अपनी, पीडे महा दोष कर॥८२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कर्मशत्रुओंको नाश करनेसे ही मोक्ष सुख प्राप्त होसकता है—

रौद्रैः कर्ममहारिभिर्भववने योगिन्! विचित्रैश्चिरम्।
नाथं नायमवापितस्त्वमसुखं यैरुच्चकैर्दुःसहम्॥
तान् रत्नत्रयभावनासिलतया न्यक्कृत्य निर्मूलतो।
राज्यं सिद्धिमहापुरेऽनघसुखं निष्कंटकं निर्विश॥८३॥

अन्वयार्थ—(योगिन्) हे योगी (भववने) इस ससाररूपी वनमे (यै) जिन (उच्चकै) बडे (रौद्रै) भयानक (विचित्रै) नाना प्रकारके (कर्ममहारिभि) कर्मरूपी तीव्र शत्रुओके द्वारा (चिरम्) अनादि कालसे (त्वम्) तूने (दु सहम्) असहनीय (असुख) दु खको (अवापित) पाया है (अय न अय न) ऐसा कोई कष्ट बाकी रहा नही जो तूने न पाया हो। (तान्) उन कर्मरूपी शत्रुओको (रत्नत्रयभावनासिलतया) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूपी आत्मध्यानकी तलवारसे (निर्मूलत) जड मूलसे (न्यक्कृत्य) नाश करके (सिद्धिमहापुरे) मोक्षके महान नगर मे जाकर (अनघसुख) पापरहित आनदसे भरे हुए (निष्कटक) तथा सर्व बाधारहित (राज्य) राज्यको (निर्विश) प्राप्त कर।

भावार्थ—यहापर आचार्यने बताया है कि इस जीवके साथ मे अनादिकालसे कर्मरूपी शत्रुओका सम्बन्ध चला आता है। ये कर्म बडे भयानक है व नाना प्रकारका कष्ट इस ससार बनमे इस मोही जीवको दे रक्खा है। कभी निगोदमे, कभी नर्कमे, कभी पृथ्वी आदि पर्यायमे, कभी कीडो मकोडोमे, कभी पशुपक्षियोमे, कभी रोगी व दलिद्री मानवोमे, कभी नीच देवोमे जन्म करा-कराकर ऐसा कोई शारीरिक व मानसिक कष्ट बाकी नही रहा है जो न दिया हो। ये कर्म-शत्रु बडे निर्दयी हैं। जितना इनसे मोह किया जाता है व जितना इनका आदर किया जाता है उतना ही अधिक ये इस प्राणीको घोर दु खोमे पटक देते हैं। जबतक इनका नाश न होगा तबतक स्वाधीन आत्मीक स्वराज्य प्राप्त न होगा। इसलिये आचार्य कहते है कि श्री जिनेन्द्र भगवान ने जिस अभेद रत्नत्रयकी बनी हुई स्वानुभव रूपी खडगका पता बताया है उस खडगको एक मन होकर ग्रहण कर और उसीका

बलपूर्वक अभ्यास कर। इसी तलवारसे कर्मोंका जड़मूलसे नाश होजाता है। वे कर्म धीरे २ सब भाग जाते हैं। वे इस यात्रीको मोक्षनगरके जानेमें विघ्न करते थे सो हट जाते हैं और यह सुगमतासे मोक्षकी अनुपम राजधानीमें प्रवेश करके परमोच्च अनुपम आत्मीक आनन्दका निरन्तर वेखटके भोग करता रहता है।

स्वामी पद्मनंदि सद्बोधचन्द्रोदयमें कहते हैं कि ध्यानसे ही कर्मोंका नाश होता है—

योगतो हि लभते विबंधनम् योगतोपि किल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥२९॥

भावार्थ—योगको अशुद्ध रखनेसे कर्मोंका बंध होता है तथा शुद्ध योगसे अवश्य यह मानव कर्मोंसे छूट जाता है। यद्यपि ध्यानका मार्ग कठिन है तथापि जो मोक्षका चाहनेवाला है उसको गुरुके वचनोंसे इस सर्व ध्यानके मार्गको समझ लेना चाहिये।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द। ?

हे योगी हैं कर्म शत्रु दुर्जन नाना तरह रूप धर।
भववनमें दुःसह जु कष्ट तुझको दीने बड़े हैं प्रबल॥
रत्नत्रयमय खड्ग देव गहकर निर्मूल उन नाशकर।
जो निष्कंटक राज्य मोक्षपुरका पावे सुखी होयकर।८८

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो कोई आत्मोन्नतिको लक्ष्यमें लेकर तप करता है उसको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है—

मंदाक्रांता वृत्त

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमाप्नोत्यसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव॥

न प्राप्यते क्वचन कलमा कौद्रवै रोप्यमाणै-
र्विज्ञायेत्थं कुशलमतय कुर्वते स्वार्थमेव ॥८४॥

अन्वयार्थ—(य) जो कोई (बाह्यार्थ) बाहरी धन, राज्य, स्वर्ग आदिके हेतुसे (तपसि) तप करनेमे (यतते) उद्यम करता है (असौ) वह (बाह्यम्) बाहरी ही पदार्थको (आपद्यते) पाता है। (तु) परन्तु (य) जो (आत्मार्थ) आत्माकी सिद्धिके लिये तप करता है (स) वह (लघु) शीघ्र (पूतम्) पवित्र(आत्मान) आत्माको (एव) ही (लभते) पाता है। (कोद्रवै रोप्यमाणै) कोदो यदि बोए जावें तो उनसे (क्वचन) कभी भी (कलमा) चावल (न प्राप्यते) नही मिल सकते हैं (इत्थ) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (कुशलमतय) निपुण बुद्धिवाले (स्वार्थम्) अपने आत्मा के कार्यको (एव) ही (कुर्वते) करते है।

भावार्थ—आचार्यने बताया है कि तप करनेमे अनेक गुण हैं, जो इस भावसे तप करते हैं कि हमे पुण्यबध हो व उस पुण्यसे हम बाहरी सपत्ति, राज्यधन, स्वर्ग आदि प्राप्त करे तो उनका भाव पवित्र व शुद्ध नही होता है। उनके भावोमे शुभ भावमात्र होते हैं जिनसे वे पुण्य बाँधकर बाहरी पदार्थ प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपना निर्मल अविनाशी मोक्षपद है वह उनको कभी भी प्राप्त नही हो सकता। इसलिए जो कोई बुद्धिमान आत्मशुद्धि के हेतुको मनमे रखकर शुद्धोपयोगी प्राप्तिके लिये आत्मध्यानादि तप करते हैं उनको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है, वे अवश्य मुक्त होजाते हैं। जैसा बीज बोया जायगा वैसा फल होगा। शुभोपयोगसे पुण्य बध होता है तब शुद्धोपयोगसे कर्मो का नाश होता है। यदि कोई कोदो बोवे और चाहे कि चावल पैदा हो तो कभी भी चावल नही मिल सकते—कोदोंसे कोदो

ही पैदा होगा। चावलके चाहनेवालेको चावल ही बोना उचित है। प्रयोजन यह है कि ज्ञानीको तुच्छ सुखके लिए तप ऐसे महान परिश्रमको न करके मात्र आत्माधीन पवित्र सुखके लिए व सदाकालकेलिए बन्धनोंसे मुक्त होनेहीके लिए तपकरना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें मोक्षप्राप्तिके लिए ज्ञानपूर्वक तप करनेकी शिक्षा देते हैं—

आत्मायत्तं विषयविरतं तत्त्वचिन्तावलीनं ।
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं ॥
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं ।
कृत्वात्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥२८॥

भावार्थ—हे सुबुद्धि! अपने आत्माको स्वाधीन करके व इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर, तत्त्वकी चिंतामें लीन होकर, सांसारिक व्यापारोंसे रहित होकर व आत्महितमें तल्लीन होकर व निराकुल आनन्दसे पूर्ण होकर, ज्ञानके भीतर आरूढ़ होकर, शांतभाव संयम दमन व तप तथा ध्यानमें प्रवृत्ति करके तू केवलज्ञानका स्वामी बन। वास्तवमें इच्छारहित आत्मध्यान ही परमात्मा पदके लाभका उपाय है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो बाहर धन आदि हेतु तपना सो बालका पावना ।
जो निज आतम हेतु ध्यान करना शुचि आत्माको पावना ॥
जो भेदोंकी भावना नहि करी वह शालिको पावना ।
ऐसा ज्ञान विचार बुद्धिवानी निज कार्य कर भावना ॥८८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी लोग धन प्राप्ति

वाहरी पदार्थोंको ही अपना समझते हैं—

कातासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाप्यात्मनो ।
भिन्ना कर्मभवा समीरणचला भावा वहिर्भाविन ॥
तै सपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानति ये शर्मदा ।
स्व सकल्पवशेन ये विदधते नाकीशलक्ष्मी स्फुटम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (कांतासद्मशरीरजप्रभृतय) ये स्त्री, मकान, पुत्र आदि पर्याय (सर्वथापि) सर्व प्रकारसे ही (आत्मन. भिन्न) अपने आत्मासे भिन्न है (वहिर्भाविन भाव)वाहर रहने वाले पदार्थ हैं (समीरणचला)तथा पवनके समान चचल हैं— टिकनेवाले नहीं हैं (कर्मभवा) सो सव कर्मोके उदयसे होनेवाले हैं। (इह) इस जगतमे (ये) जो (गतधिय) वुद्धिरहित प्राणी (तै) इन ही पदार्थोंमे (आत्मन) अपनेको (शर्मदा) सुख देने वाली (सपत्ति) सपत्ति (जानति) जानते है (ते) वे (स्फुटम्) प्रगटपने (सकल्पवशेन) अपने मनके सकल्पसे ही (स्व) अपने पास (नाकीशलक्ष्मीं) स्वर्गकी लक्ष्मीको मानो (विदधते) प्राप्त करते रहते हैं।

भावार्थ—यहापर यह दिखलाया गया है कि जो मूर्ख क्षण-भगुर पदार्थोंके सम्वन्ध होनेपर उनको अपनी सम्पत्ति मानलेते हैं वे अ तमे पछताते हैं और शोकमे ग्रसित होते हैं, जगतमे स्त्री पुत्र, मित्र, वन्धुजन आदि चेतन पदार्थ तथा धन, धान्य, राज्य, ग्रह आदि अचेतन पदार्थ जव किसीको मिलते है तव कुछ पुण्य-कर्मका उदय होता है तव मिलते हैं और जगतके पुण्यकर्मका संवध रहता है तवतक ही उनका सम्वन्ध रहता है, पुण्यके क्षय होनेपर उनका सम्वन्ध इतनी जल्दी छूट जाता है जैसे पवन

बहते हुए निकल जाती है। न तो इन पदार्थोंके सदा साथ रहनेका निश्चय है और न अपना ही उनके साथ सदा बने रहनेका निश्चय। क्योंकि इन बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध यदि है तो मात्र इस देहके साथ है देह आयुकर्मके आधीन है अवश्य छूट जायगी तब कुटुम्बियोंको भी सर्व सम्पत्ति यहीं छोड़ देनी पड़ती है। आत्मा अकेला अपने पुण्य तथा पापके बंधनको लिए हुए दूसरी गतिमें चला जाता है। इन पदार्थोंको सुखदाई मानना भी भूल है। इनके लाभ करनेमें, इनकी रक्षा करनेमें, इनके वियोग होने पर, इनके बिगड़ने पर प्राणीको खेद व दुःख ही अधिक होता है, अभिप्राय यह है कि ज्ञानी जीव इनको अपने आत्माको सुखदाई सम्पत्ति नहीं मानता है। वह ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि आत्मीक गुणोंको ही अपनी अटूट व अविनाशी सम्पदा मानता है, अज्ञानीका इन अनित्य पदार्थोंको अपना मानना ऐसी ही मूर्खता है जैसे कोई अपने मनमें ऐसा माना करे कि मैं तो स्वर्गका इन्द्र हूं व देव हूं मैं स्वर्गमें रमण कर रहा हूं। जैसा यह कल्पना झूठा है मात्र एक ख्याल है, वैसे ही अनित्य पदार्थोंको अपना मानना एक ख्याल है व भ्रम है। स्वामी पद्मनंदि अनित्यपंचाशतमें कहते हैं—

हन्ति व्योम स मुष्टिनाथ सरितं शुष्कां तरत्याकुल—
स्तृष्णार्तोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ॥
प्रोत्तुंगाचलचूलिकागतमरुत् प्रेंखत् प्रदीपोपमैः—
यत् संपत् सुतकामिनीप्रभृतिभि कुर्यान्मदं मानव ॥४३॥

भावार्थ—जो कोई मानव धन, पुत्र, स्त्री आदि अनित्य पदार्थोंके होते हुए इनको अपना मानकर मद करता है वह मानो

आकाशको अपनी मुट्ठीसे मारता है सूखी नदी मे तैरता है, प्याससे घबडाया हुआ मृगजलको पीता है । ये सब स्त्री पुत्रादि पदार्थ इसी तरह नाश होनेवाले हैं जैसे ऊँचे पर्वतकी चोटीमे आई हुई हवाके झोकेसे दीपककी लौ बुझ जाती है । इनको अपना मानना मूर्खपना है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो दारा सुत गृह अनित्य वस्तु हैं भिन्न निज आत्मसे ।
रहते बाहर देह सग चचल हो पुण्य परतापसे ॥
जो मूरख सपत्ति जान उनको सुखदाय सो दुख सहे ।
मानो माने देव लक्ष्मि धरता मन बीच सोचा करे ।८५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके पदार्थोसे राग दुःख-कारी है जब कि वैराग्य सुखकारी है—

मदाक्रांता छन्द

यद्रक्तानां भवति भुवने कर्मबधाय पुसां ।
नीरागाणा कलिमलमुचे तद्धि मोक्षाय वस्तु ॥
यन्मृत्यर्थं दधिगुडघृत सन्निपाताकुलाना ।
नीरोगाणा वितरति परा तद्धि पुष्टि प्रकृष्टाम् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(भुवने) इस लोकमे (यद् वस्तु) जो पदार्थ (रक्तानां) रागी पुरुषोके लिए (कर्मबधाय) कर्मोके बधके लिए (भवति) होता है (तत् हि) वह ही पदार्थ (नीरागाणा, वीतरागी पुरुषोके लिये (कलिमलमुचे मोक्षाय) कर्मरूपी मलको छुडाकर मोक्षके लिए होता है जैसे (यत् दधिगुडघृत) जो दही गुड तथा घी (सन्निपाताकुलाना) सन्निपातसे व्याकुल पुरुषोके लिए (मृत्यर्थं) मरणके लिये होता है (तत् हि) वह ही (नीरोगाणा)

निरोगी पुरुषके (पराँ प्रकृष्टाँ पुष्टि) वहुत पुष्टि या शक्ति(वितरति) देता है।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने दिखलाया है कि परपदार्थ न वधका कारण है न मोक्षका कारण है। असलमे रागभाव या ममताभाव कर्मवधका कारण है और ममता रहित वीतरागभाव कर्मोके नाशका कारण है। जिनके पास धन धान्य परिग्रह न हो परन्तु रागद्वेष या परिग्रहका ममताभाव वहुत अधिक हो तो उनके कर्मोका वन्ध होजायगा तथा जिन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवो के पास धनादि परिग्रह हो पर जो अपने स्वाभाविक ज्ञान व वैराग्यके वलसे उसको अपनी वस्तु नहीं जानते हो किन्तु मात्र पुण्योदयसे प्राप्त परवस्तु मानते हो उनके चित्तमे मोहभाव नही होता है। इससे यह परिग्रह उनके लिये अधिक कर्मकी निर्जरा का कारण है। चरित्रमोहके उदयसे उनके जो अल्प रागद्वेष होता है उससे जो कर्मबंध होता है वह इतना कम है कि वह ससारके भ्रमणका कारण नहीं होता है। जवकि मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवके भावोमे धनादि परिग्रह हो या न हो, जगतके पदार्थोंसे वडा भारी ममत्त्व होता है इसलिये वह वहुत अधिक बध करता है। अज्ञानीका वंध ससारभ्रमणका कारण है। परतु ज्ञानीका वन्ध मोक्षमे वाधक नही है। उस ज्ञानीके जितना२ वीतरागभाव वढता जाता है उतनी२ अधिक निर्जरा होती जाती है। समवशरणमे वहुत रत्नोकी व सुवर्ण आदिकी रचना होती है वही श्री केवली भगवान विराजमान होते हैं। केवली भगवान पूर्ण वीतराग हैं उनके उस समवशरणकी विभूतिसे रञ्चमात्र भी कर्मोंका वध नही होता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि रागी जीवके परिग्रह वन्धका कारण है तथा वीतरागीके वह निर्जराका कारण हैं। जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ होते हैं वह

धनादिका सचय करते हैं उनके पिछले कर्मोकी निर्जरा अधिक होती है क्योंकि वे भीतरसे उसके साथ मोह नही रखते हैं परन्तु जितने अ श रागभाव है उतने अ श वहुत थोडा कर्मवंध होता है। यहापर दृष्टात दिया है कि दही गुड और घी ऐसे पदार्थ है जिनको सन्निपात वाला खालेवे तो उसका मरण होजावे परन्तु यदि उनको निरोगी मानव खावे तो उसको बहुत अधिक वल प्राप्त हो। एक ही वस्तु किसीको हानिका निमित्त व किसीको लाभका निमित्त होती है। इसतरह ज्ञानीको धनादि परिग्रह निर्जरा व मोक्षका कारण है जब कि अज्ञानीको वह आस्रव तथा कर्मवधका कारण है।

तात्पर्य—यह है कि हमको वीतरागी होनेका यत्न करना चाहिये। वह वीतराग भाव पदार्थोके सच्चे स्वरूपके ज्ञानसे होता है। ज्ञानकी महिमा स्वामी अमितगतिने सुभाषित-रत्नसदोहमे इस तरह कही है—

ज्ञान विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्तत प्रवृत्तिर्न हिते जनाना।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्य लभतेप्यभीष्टम् ॥१६॥

भावार्थ—ज्ञानके विना मानवोका अहितसे बचना व हितमे प्रवर्तना असभव है। विना स्वात्महितमे प्रवृत्ति किये पूर्व कर्मोका नाश नही होसकना है और विना कर्मोके नाशके कोई अपने इष्ट सच्चे मोक्षसुखको कभीभी नही पासकता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छद।

जगमे जो जो वस्तु कर्मवधन रागी जनोको करैं।
सो सो वस्तु विरागभाव धरके हर कर्म मुक्ती करैं॥

जो दधि गुड घी सन्निपात धरके तनको वियोगी करे।
सो ही रोगरहित पुरुष यदि भखै अत्यन्त पुष्टी करे।८६।

उत्थानिका—आगे कहते हैं लोभ कपाय ज्ञानी मानवोंको भी सतापका कारण है—

सम्यग्दर्शनबोधसयततप शीलादिभाजोऽपि नो।
सक्लेशो विनिवर्तते भवभृतो लोभानल बिभ्रत ॥
विभ्राणस्य विचित्ररत्न नचित दुष्प्रापपारं पय ।
सताप किमुदन्वतो न कुरुते मध्यस्थितो वाडव ।८७।

अन्वयार्थ—(भवभृत) ससारमे रहनेवाले प्राणीके(सम्यग्दर्शनबोधसयमतप शीलादिभाज अपि) जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सयम, तप व शील आदि गुणोको रखनेवाला भी है परन्तु यदि (लोभानलं बिभ्रत) उसके मनमे लोभकी आग जल रही है तो उसके पाससे(सक्लेशो) सक्लेशभाव (नो विनिवर्तते)नहीं हटता है। (विचित्ररत्ननिचित) नाना प्रकार रत्नोके समूहको व (दुष्प्रापपार पय) जिसका पार करना कठिन है ऐसे जलको (विभ्राणस्य) धारण करनेवाले (उदन्वत)समुद्रके(मध्यस्थित) बीचमे रहा हुआ (वाडव)दावानल (कि) क्या (सताप) सतापको या क्षोभको (न कुरुते) नही करता है ?

भावार्थ—यहांपर यह बात दिखलाई है कि लोभकषाय महान आकुलता व सक्लेशभावका कारण है। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या-यदि कोई सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी सयमी साधु भी हो और उनके भीतर यदि कभी प्रतिष्ठा पानेका, पूजा करनेका, रस सहित भोजन पानेका इत्यादि किसी प्रकारका लोभ होजावे तो उसके परिणाम शांत व स्वस्थ न रहेंगे।

जब वह लोभको हटाकर सतोषी व शात होगा तब ही उसका मन क्षोभरहित होगा । जैसे समुद्रमे अगाध जल होता है व रत्न भी होते हैं परन्तु उसके मध्यमे जो वडवानल जलती है उससे समुद्रका जल सदा क्षोभित रहता है—निश्चल नही ठहर सकता । यहा यह वताया है कि सम्यग्दृष्टी होकर भी निश्चिन्त रहना चाहिए किंतु सर्व लोभके मैलको हटानेके लिए परिग्रहका त्याग करके निर्लोभी होजाना चाहिए। निर्लोभी ही आकुलता रहित आत्मध्यान कर सकते हैं इसलिए लोभ कषाय को जीतना आवश्यक है ।

स्वामी अमितगतिजीने सुभाषितरत्नसदोहमे कहा है—

चक्रेशकेशवहलायुधभूषितोपि ।
सतोपमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति ॥
तृप्ति विना न सुखमित्यवगम्य सम्य-
ग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवति धीरा ॥७९॥

भावार्थ—चक्रवर्ती, नारायण आदिकी वहुत विभूति व आयुध आदिसे विभूषित होनेपर भी यदि किसी मानवमे सतोष नही है तो उसको कभी तृप्ति नही मिल सकती है। जहाँ मनमे तृप्ति नही वहा कभी सुख नही प्राप्त होसकता ऐसा जानकर धीर पुरुष कभी भी लोभ रूपी पिशाचके वशीभूत नही होते है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

सम्यग्दर्शन ज्ञान सयममयी तप शील धारे सही ।
पर मनसे तृष्णा तजे नहिं कभी संक्लेश त्यागे नही ॥
नाना रत्न समूह धार उदधी जलका नही पार है ।
वड़वानल तिसमध्य नित्य जलता सताप कर्तार है ।८७।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहांध पुरुष परके पदार्थको अपना ही समझ लेते हैं परन्तु निर्मोही नहीं समझते।

मन्दाक्रांता वृत्तम् ।

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या ।
निर्मोहानां व्यपगतमल शश्वदात्मैव नित्य. ॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयै-
र्मोह चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥८८॥

अन्वयार्थ—(मोहांधानाँ) मोहसे अन्धे जीवोंके (हृदये) हृदयमें (बाह्यम्) बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ (आत्मीय-बुद्धया) अपने आत्मापनेकी बुद्धिसे अर्थात् वह अपना ही है ऐसा (स्फुरति) झलकता है। (निर्मोहानां) मोह रहित पुरुषोंके हृदयमें (व्यपगतमल) कर्ममैलसे रहित (नित्य.) अविनाशी (आत्मा एव) आत्मा ही (शश्वत्) सदा अपनापनेकी बुद्धिसे झलकता है। (चित्त) हे मन! (यदि यत्) अगर जो (तद्भेदं) इन दोनोंके भेदको (ते विविदिषा) तू समझ गया है (तदा) तब (स्वकीयैः) इन अपनोंसे अर्थात् इन स्त्री पुत्रादिसे जिनको तूने अपना मान रक्खा है (स्वकीयं) अपनेपनका (दुष्टं) दुष्ट (मोहं) मोह (किं न) क्यों नहीं (क्षणेन क्षपयसि) क्षणमात्रमें नाश कर देता है।

भावार्थ—जहांतक संसारी जीवोंके हृदयमें मिथ्यात्व कर्मका उदय है कि जिससे उनके मिथ्याभाव रहता है वहा तक वे पर वस्तुको अपनी माना करते हैं। जो शरीर क्षणभंगुर है उसे अपना मान लेते हैं फिर शरीरके सम्बन्धी संपूर्ण पदार्थोंको अपना मान लेते हैं, उनकी बुद्धि बिलकुल अंधी होजाती है परन्तु जब मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यग्दर्शनका प्रकाश

होजाता है तब पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जैसाका तैसा झलक जाता है। तब यह ज्ञानी जीव मात्र एक अपने आत्माके ही शुद्ध स्वभावको अपना जानता है। रागादि भावोको, आठकर्मो को व शरीरादिको व अन्य बाहरी पदार्थोंको अपना कभी नही जानता है। वह देख करके निर्णय करलेता है कि सर्व पदार्थ विलय होते जाते है। किसीका सम्बन्ध मेरे आत्माके साथ नित्य नही रहता है। शरीर ही जब छूट जाता है तब दूसरे पदार्थकी क्या गिनती ? तब वह ज्ञानी अपने मनको समझाता है कि जब तू भले प्रकार जान गया है कि जगतका एक परमाणु मात्र भी अपना नही है तब फिर तू क्यो मूढ बनता है और क्यो नही अपनी भूलको छोडता है। तूने जिन शरीरादि पदार्थोंको अपना मान रक्खा है वे जब तेरे नही होते तब तेरा उनसे मोह करना वृथा है। तू मात्र अपने स्वामी आत्माको ही अपना मान। वास्तवमे जिनके यथार्थ निर्णय हो जाता है उनके दुर्बुद्धि नही पैदा होती है।

श्री अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

यथार्थतत्त्व कथित जिनेश्वरै सुखावह सर्वशरीरिणाँ सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्यजीवो वितनोति दुर्मतिम्
॥१५७॥

भावार्थ--जिनेन्द्र भगवानने सर्व शरीरधारी प्राणियोको सदा सुख देनेवाले यथार्थ तत्वका कथन किया है। जो अपने कानोसे सुनकर दिलमे रखता है व ठीक २ निश्चय कर लेता है वह भव्यजीव फिर मिथ्याबुद्धि नही करता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो मिथ्याती मोह अन्धमति हो पर वस्तु निज मानता।
सम्यक्ती निजआत्म नित्य निर्मल उसको न निज जानता॥

रे मन ऐसा भेद ज्ञान करके निज आत्ममें लीन हो।
परसे अपना मोह सर्व हरके मन दुःखसे छीन हो ॥८८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी तपस्वी ही मोक्षके अधिकारी हैं—

शार्दूलविक्रीडित छंद।

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यका।
कायेनापि विलक्षमाणहृदया साहायकं कुर्वता॥
तप्यते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छति ते निर्वृतिम् ॥८९॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मारोपितशीलसंयमभरा) जो शील व संयमके भारसे भरे हुये अपने आत्मामें ही लीन हैं (त्यक्तान्यसाहाय्यका) जिन्होंने परवस्तुके आलम्बनका त्याग किया है (साहायकं कुर्वता कायेन अपि विलक्षमाणहृदया) जिनका मन ध्यानके साधनमें सहाय करनेवाले इस शरीरसे भी उदास है ऐसे साधु (परदुष्करं गुरुतप तप्यते) बहुत भारी कठिन तपस्या तपते हैं (तत्र अपि ये निस्पृहा) परन्तु उस तपमें भी जो वांछा नहीं रखते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य निज आत्मानुभवपर है (ते) वे (भूरिभयदं) इस अत्यन्त भय देनेवाले (जन्मारण्य) संसार वनको (अतीत्य) उल्लंघन करके (निर्वृतिम्) मोक्षको (गच्छति) चले जाते हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने मोक्षके अधिकारी तपस्वियोंका स्वरूप बताया है कि जो शील व संयम पालते हुये भी अपने आत्माके स्वभावमें लीन होनेको ही असली शील व संयम मानते हैं, तथा जिन्होंने अपने मनको ऐसा वश कर लिया है कि उस मनको दूसरोंकी मदद नहीं लेनी पड़ती है। शास्त्र व गुरुउपदेशका

सहारा भी छोड़कर जिनका मन स्वरूपमें तन्मय है। यद्यपि इन शरीरकी ही मददसे वे अपना आत्मसाधन करते हैं तथापि इससे अत्यन्त विरागी हैं- इसका सम्बंध मिटाना ही चाहते हैं। वास्तवमें उनका सारा उद्यम इस शरीरके कारागारसे निकल कर स्वतन्त्र होनेका है। शरीरको दुष्ट चाकरके समान कुछ थोड़ासा भोजनपान देकर जीवित रखते हैं। ऐसे साधु निर्जन वन, पर्वत, नदीतट, वृक्षतल आदि कठोर व दुर्गम स्थानों पर खड़े होकर या बैठकर एकाग्र मन हो आत्माधीन तप तपते हैं तोभी उस तपमें प्रेम नहीं रखते हैं, तप करनेको यह एक सीढ़ी मात्र जानते हैं ध्यान अपने स्वाधीन गुणके लाभसे ही रखते हैं। ऐसे वीतरागी आत्मरसी साधु महात्मा ही कर्मोंकी निर्जरा करके भयानक संसार-वनसे निकल कर परमानन्दमई मोक्षमें पहुंच जाते हैं।

दुष्कर गुरुतर तपश्चरण करते वाँछा न तपकी करे ।
जो तपसी भयदाय भवरन तजें शिवनारिको जा वरें ॥८९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ऐसे तपस्वी जो पुण्यकी वाँछा भी नहीं रखते, बहुत दुर्लभ हैं—

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतुमनसो ये पोषयंते तपः ॥
जायंते शमसंयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥९०॥

अन्वयार्थ—(पूर्वं अशुभ कर्म) पहलेका बाधा हुआ पाप-कर्म (दुःख) दुःखको व (शुभ निर्मितम्) शुभ कर्म बांधा हुआ (सौख्य) सुखको (करोति) करता है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (ये) जो (अशुभ निहंतुमनसः) पाप कर्मको नाश करने की मनसा करके (तपः पोषयंते) तपका साधन करते हैं (ते) वे (शमसंयमैकनिधय) शान्ति व संयमके एक निधिरूप (योगिनः) योगी (दुर्लभा जायन्ते) बहुत कठिनतासे मिलते हैं। (तु) परन्तु (ये) जो (अत्र) इस जगतमें (उभय-कर्मनाशनपरा) पुण्य पाप दोनों कर्मोंके नाशमें उद्यमी हों (तेषां) उन साधुओंके सम्बन्धमें (अत्र) यहाँ (किं उच्यते) क्या कहा जावे? अर्थात् वे तो दुर्लभ ही हैं।

भावार्थ—इस कथनसे आचार्यने बताया है कि वास्तवमें वही मोक्ष मार्ग है जहांपर पुण्य तथा पाप दोनोंमें विरक्त हो मात्र शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य रक्खा जावे। निस्पृहपना ही एक साधुका लक्ष्य है। आत्मानन्दमें मगन रहनाही साधुका चिन्ह है। यद्यपि इस काल में ऐसे विरले ही साधु मिलते हैं तथापि इसी रत्नत्रयमई भावको मोक्षमार्ग श्रद्धान करना चाहिये। पापकर्मों

ऐसे योगी सयमी चितसमी दुर्लभ सु इस काल हैं ।
अति दुर्लभ शुभ अशुभ हनन तपसी वे सत्य शिवसुख लहैं ॥९०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधुजन सदा कर्मशत्रुओंके नाशमे उद्यमी रहते हैं—

विच्छेद्य यदुदीर्य कर्म रभसा ससारविस्तारकम् ।
साधूनामुदयागत स्वयमिद विच्छेदने क श्रम ॥
यो गत्वा विजिगीषुणा वलवता वैरी हठाद्धन्यते ।
नाहत्वा गृहमागत स्वयमसौ सत्यज्यते कोविदै ॥९१॥

अन्वयार्थ—(साधूना) साधुओंके लिये (यत् ससारविस्तारक कर्म)जो कर्म ससारका वढानेवाला है(रभसा उदीर्य)उसे शीघ्र उदयमे लाकर (विच्छेद्य) छेदना उचित है तव फिर (स्वय उदयागत इद) अपने आप ही उदयमे आए हुए इस कर्मको (विच्छेदने)नाश करनेमे (क श्रम)क्या परिश्रम है या क्या कठिनता है। (वलवता)वलवान(विजिगीषुणा)विजयको चाहनेवाला पुरुष(गत्वा)जाकरके (य वैरी) जिस शत्रुको (हठात्) वलपूर्वक (हन्यते) मारता है (असौ) यह शत्रु (स्वयम्) अपने आप ही (गृहम्)घरमे (आगत) आगया तव (कोविदै) वुद्धिमान (अहत्वा) विना मारे (न सत्यज्यते) नही छोडते ।

भावार्थ—आत्माके शत्रु कर्म हैं क्योकि ये कर्म ही वधनमे डाले हुए आत्माकी स्वाधीनताको हरण किये हुए हैं, चारो गतियोमे अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट देनेमे कारणभूत ये कर्मरूपी शत्रु ही हैं, जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा कर्मोको अपना घातक समझ लेतेहैं वे अपनी स्वधीनता पानेकेलिएउद्यमी होकर

यह चित्तमे ठान लेते हैं कि किसी भी तरह इन कर्म-शत्रुओ का सर्वनाश करना चाहिए। इसलिए घर तज वनमे जाते हैं और तपस्या करके कर्मो को, जो दीर्घकालमे नाश होते, उनको शीघ्र उदयमे लाकर नाश करते रहते हैं। ऐसे साधुओंके सामने यदि कर्मशत्रु स्वय उदयमे आकर यहांतक कि उदीरणारूप बहुत अधिक उदयमे आकर उपसर्ग व परीषह द्वारा दुःख पैदा करके नाश होने लगे तो साधु उस समय बडा हर्ष मानते है व उनके नाश होनेमे कुछ भी अपना विगाड नहीं करते। प्रयोजन यह है कि जब साधुओंको तीव्र असातावेदनी कर्मकी उदीरणासे घोर उपसर्ग पड जावे व घोर परीषह सहना पडे तो वे साधु उस समय अपने आत्मध्यानमे निश्चल रहकर उन आए हुए कर्मशत्रुओ को क्षय होने देते हैं। उस समय यदि साधु सक्लेश भावधारी होजावे तो नवीन असाता कर्मको बॉध लेवे तब मानो उन्होने शत्रुको नाश नही किया, उल्टा आप कर्मशत्रु के बन्धनमे फस गए। परन्तु सच्चे पुरुषार्थी साधु सकटो के समय उत्तम क्षमाकी ढाल से अपने भावोको पवित्र व आत्मरमी रखते हैं इससे उन कर्मो का बडी सुगमतासे क्षयकर डालते हैं। बहुधा उपसर्ग पडने पर साधुओंको तुर्त केवलज्ञान होजाता है। अभिप्राय यह है कि साधुओंको कर्मोंका आक्रमण होनेपर उनको समताभावसे नाशकर डालना चाहिये-कभी भी आकुलित न होना चाहिए। उस वक्त यह ही वीरभाव धारना चाहिए कि जैसा कोई वीर योद्धा अपने मनमे रखता है। किसी शत्रुको विजय करनेके लिए उसको चढाई करके जाना था। कारणवश वह शत्रु यदि स्वय चढ करके आगया तब वह वीरयोद्धा अपनी अकाट्य सेना द्वारा उस शत्रुका व उसके दलका नाश करनेमे कोई कमी नही करता किन्तु विना अधिक परिश्रमके बडी सुगमतासे उस शत्रुका नाश कर देता है।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको उचित है कि सदा ही कर्म शत्रुओको जीतनेकी ताकमे रहे, उनके वशमे आप न पडे ।

वास्तवमे कषाय वैरीके नाशक ही साधु सच्चे गुरु हैं ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

न रागिण क्वचन न रोषदूषिता, न मोहिनो भवभयभेदनोद्यता
गृहीतसन्मननचरित्रदृष्टयो, भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधना ।६८४

भावार्थ—जो न कभी रागी होते हैं न क्रोधसे दूषित होते हैं न मोही हैं तथा जो ससारके भयको भेदनेके लिए उद्यमी हैं व जिन्होने सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रको धारण कर लिया है ऐसे तपस्वी मेरे मनमे आनन्दके हेतु होवे ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

भववर्द्धन सव कर्म निर्जर करन जो शीघ्र मनसा धरे ।
जो आपीसे आगया उदयमे विन श्रम यती क्षय करे ॥
विजयी वीर विचारता कि जाकर निजशत्रु मर्दन करे ॥
सो आपीसे आगया स्वघरमे बुध तुर्त ही क्षय करे ॥९१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्याग विना मोक्ष का लाभ नही हो सकता है—

मालिनी वृत्तम् ।

व्रजति भृशमधस्ताद् गृह्यमाणेऽर्थजाते ।
गतभरमुपरिष्टात्तत्र सत्यज्यमाने ॥
हतकहृदय तद्वद्येन यद्वत्तुलाग्र ।
जहिहि दुरितहेतु तेन सग त्रिधापि ॥९२॥

अन्वयार्थ—(हतकहृदय) हे शून्य हृदय! (येन) क्योंकि (यद्वत्) जैसे (तुलाग) तराजूका पलडा (तद्वत्) तैसे (भृशम्) बहुत अधिक(अर्थजाते गृह्यमाणे)पदार्थोंको ग्रहण करते हुए यह जीव(अधस्तात् व्रजति) नीचेको अर्थात् नर्कनिगोद आदि गति को चला जाता है (तत्र सत्यज्यमाने) और जहा पदार्थोंको त्याग दिया जाता है तव (गतभरम्) भारसे हलका होकर (उपरिष्टात्) ऊपरको अर्थात् स्वर्ग या मोक्षको चला जाता है (तेन) इसलिये (दुरितहेतु) पापबन्धका कारण (सग) परिग्रह को (त्रिधा अपि) मन, वचन, काय तीनोसे (जहिहि) त्याग दे।

भावार्थ—यहाँपर आचार्यने वताया है कि परिग्रहका भार इस जीवको नीच गतिकी तरफ लेजानेवाला है तथा परिग्रहके भारका त्याग ऊँचीगतिको ले जानेवाला है और इसपर तराजूका दृष्टात दिया है। जैसे तराजूके पलडेपर जितना अधिक बोझा लादेंगे वह अधिक२ नीचेको जायगा और जितना बोझा उसमेसे निकाल लेंगे उतना ही वह पलडा ऊँचा होता जायगा वैसे ही जितनी अधिक मूर्छा होगी उतना ही इस जीवका पतन होगा व जितनी मूर्छा कम होगी उतनी ही इस जीवकी उन्नति होगी। तत्वार्थसूत्रमे कहा है--"बह्वारम्भपरिग्रहत्व नारकस्यायुष।" बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह नरक आयु बन्धका कारण है। "अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य" थोडा आरम्भ तथा थोडा परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवका कारण है। जो परिग्रहका प्रमाण करके श्रावकव्रत पालते है वे नियमसे देवगति जाते हैं,जो परिग्रहको त्यागकर ममताको हटा लेते हैं व तप करते है उनके यदि कषायभाव या रागभाव बिलकुल न मिटा तव तो वे साधु स्वर्गोमे १६ स्वर्ग तक व नौ ग्रैवेयकोमे या नव अनुदिशमे व पाच अनु

त्तरमे चले जाते हैं। जितना २ मूर्छारूप रागभाव या परिग्रह कम होता जाता हे उतने२ ही ऊँचे जाने लायक पुण्यकर्म बाँध कर ऊ चे२ विमानमे देव, इन्द्र या अहमिन्द्र पैदा होते हैं। जिन साधुओके रागभाव विलकुल नष्ट हो जाता है वे उसी जन्मसे अरहन्त परमात्मा होकर फिर सिद्ध परमात्मा होकर तीन लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्रमे विराजमान होजाते हैं। सवसे अधिक मूर्छा वान परिग्रही सवस अतिम सातवे नर्कमे जाता है जव कि परि ग्रहका पूर्ण त्यागी, पूर्ण वीतरागी सीधा मुक्तिमे चला जाता है, ऐसा जानकर आचार्य कहते है कि — हे आत्मन्! यदि तू सर्वोच्च पदको प्राप्त करना चाहता है और ससारकी आकुलता ओसे वचकर नित्य आत्मीक आनन्दका स्वाद लेना चाहता है तो सवसे ममता छोडकर एक निज शुभ स्वरूपका प्रेमी वन और उसीके मनोहर आत्म उपवनमे रमण कर, वृथा क्यो जगतके ममत्वमे अपनेको दीन हीन वना रहा है।

स्वामीअमितगतिने सुभाषितरत्नसदोहमे कहा है कि लोभकी आग आत्मीक गुणोकी घातक है—

लब्धेन्धनज्वलनवत्क्षणतोऽतिवृद्धि ।
लाभेन लोभदहन समुपैति जन्तो ॥
विद्यागमव्रततप शमसयमादी—
न्भस्मीकरोति यमिना स पुन प्रवृद्ध ॥६४॥

भावार्थ--जैसे अग्निमे ईधन डालनेसे आग क्षणभरमे बढती जाती है वैसे ही लोभकी आग प्राणीके भीतर लाभके होनेसे बढ जाती

है। वह बढी हुई लोभकी आग सयमी साधुओके विद्याके लाभको, व्रतको, तपको, शांत भावको तथा सयमादिको भस्म कर देती है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पलडा भारी जात है अधोको विन भार ऊपर रहे।
जो कोई वहु सङ्ग भार रखता सो नीचगति ही लहे॥
तज परिग्रह जजाल होय निस्पृह सो ऊर्द्ध गति जात है।
मन वच काय सम्हार सङ्ग तजदे अघ बध जो लात है॥९२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि तपको पालते हुए उसे शुद्ध रखना चाहिए, मलीन न करना चाहिए।

सद्यो हन्ति दुरतससृतिकर यत्पूर्वक पातकम्।
शुद्ध्यर्थं विमल विधाय मलिन तत्सेवते यस्तप।
शुद्धि याति कदाचनापि गतधीर्नासाववद्यार्जकम्।
एकीकृत्य जल मलाचिततनु स्नात कुत शुध्यति॥९३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (विमल तप) निर्मल तप (दुरन्त-ससृतिकर) दुखमयी ससारको बढानेवाले (पूर्वकम्) पूर्वमे किये हुए (पातक) पापको (सद्य) शीघ्रही (हन्ति) नाश कर सकता है (तत) उस तपको (मलिन) मलीन व (अवद्यार्जकम्) पापको बाधनेवाला ऐसा (विधाय) करके (य) जो कोई (शुद्धयर्थ) कमो के मैलसे शुद्ध होनेके लिए (सेवते) सेवन करता है (असौ) वह (गतधी) निर्बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (न शुद्धि याति) नही शुद्ध हो सकता है (मलाचिततनु) मलसे जिसका शरीर भरा हुआ है ऐसा पुरुष (जल एकीकृत्य) जलको मैलसे मिलाकर (स्नात) स्नान करते हुए (कुत) किस तरह (शुध्यति) मलरहित शुद्ध हो सकता है?

भावार्थ—यहापर आचार्य दिखलाते हैं कि शुद्ध वीतरागभावमई निर्मल तपसे ही कर्मोंकी निर्जरा होसकती है। जो कोई तप तो करे परन्तु तपको भी अभिमान सहित करे व आगामी भोगोकी इच्छारूप निदान सहित करे व इस श्रद्धानको न पाकर करे कि शुभ भावसे वध होता है तथा शुद्ध भावोसे निर्जरा होती है और शुभ भावसे ही मोक्ष मानले तो ऐसा तप उल्टा कर्मोको बॉधनेवाला है। यह तप मलीन है, शुभ या अशुभ भाव सहित है, ऐसा तप मिथ्यात्वसहित है। यदि घोर कष्ट सहकर व महीनो उपवास करके ऐसे मिथ्या तपको वहुत वर्षोंतक साधन करे तोभी इस तपसे वध ही होगा, आत्मा अधिक मैला होगा। जिस हेतुसे तप किया था कि मैं शुद्ध होजाऊ वह हेतु कभी भी पूरा नही होगा। परन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभावो को वढाता हुआ तप करेगा और शुद्धोपयोगमे रमण करेगा उसके अवश्य पिछले कर्मोकी वहुत निर्जरा होगी और नवीन कर्मोका वहुत सवर होगा। इसलिए शुद्धोपयोग भाव ही आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। यह विश्वास दृढ रखके इस भावको जगानेके ही लिये तप करना योग्य है, जो आदमी मैलसे विलकुल मैला हो रहा है उसके मैल धोनेके लिये शुद्ध साफ पानी चाहिये। यदि कोई मैलसे मिले हुये पानीसे नहावे तो उसका मैल कभी भी शरीरसे उतरेगा नही—और चढता रहेगा। शुद्ध पानीसे ही मसल मसलकर नहानेसे शरीर शुद्ध होगा, इसी तरह शुद्ध ध्यानमई तपके अभ्याससे ही मलीन आत्मा शुद्ध होगा।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे निर्मल तप साधको की प्रशसा करते हैं—

जीवाजीवादितत्त्वप्रकटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा।
निर्धूतक्रोधयोधा मुदि मदितमदा हृद्यविद्यानवद्या ॥
ये तप्यन्तेऽनपेक्ष जिनगदिततपो मुक्तये मुक्तसंगा-
स्ते मुक्ति मुक्तबाधाममितगतिगुणा साधवो नो दिशन्तु
॥९०९॥

भावार्थ—जो साधु जीव अजीव आदि तत्वोंके जाननेमे चतुर हैं, जिन्होने कामदेवके भेदको विध्वश कर डाला है, क्रोध रूपी योधाको क्षय कर दिया हैं, आठो मदोको चूर्ण कर दिया है, अज्ञान दूर करके दोषरहित है, ऐसे जो साधु सर्व परिग्रह रहित होकर विना किसी वाछाके मात्र मुक्तिके लिए आनन्द मनसे जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ तप तपते है वे अमर्याद ज्ञानगुणके धारी साधु हमको बाधारहित मुक्ति देवें। वास्तवमे कषायरहित ही तप सच्चा तप है ऐसे ही तपस्वी स्वय मुक्त होते हैं और दूसरोको भवसागरसे तारते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छद।

दुखमय भवकर पूर्व पाप सचय जो शीघ्र मर्दन करे।
ऐसे निर्मल शुद्धि हेतु तपको मन मैल धरकर करे ॥
सो निर्बुद्धि कुकर्म अर्जन करे नहि कर्मसे शुद्ध हो।
मलतनधारी नर मलीन जलसे न्हाकर नही शुद्ध हो।९३।

उत्थानिका—आगे कहते हैं भेदज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध ध्यान से ही कर्मोका नाश होता है—

लब्ध्वा दुर्लभभेदयो सपदि ये देहात्मनोरन्तरम्।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनय शुद्धेन कर्मेधनम् ॥

लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा द्विलोकार्चिता।
पथान कथयति सिद्धिवसतेस्ते सतु न. सिद्धये॥६४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (मुनय) मुनि (दुर्लभभेदयो देहात्मनो) कठिनतासे भिन्न २ किये जाने योग्य शरीर और आत्माके (अ तरम्) भेदको (सपदि लव्ध्वा) शीघ्र पाकरके तथा (शुद्धेन) शुद्ध वीतरागतामई (ध्यानहुताशनेन) आत्मध्यानकी अग्निने (कर्मेधनम्) कर्मोंके ईंधनको (दग्ध्वा) जला करके (लोकालोक विलोकिलोकनयना) लोक और अलोकको देखनेवाले केवलज्ञान नेत्रके धारी होजाते हैं तथा (द्विलोकार्चिता) इस लोकके चक्र वर्ती आदि मानव व परलोकके इन्द्रादिदेव आदिके द्वारा पूजे जाते हैं (भूत्वा) ऐसे महान परमात्मा अरहत होकर (सिद्धिव-वसते) मोक्षरूपी वसतीके (पथान) मार्गको (कथयति) वनाते हैं (ते) वे (न) हमलोगोको (सिद्धये) सिद्धिके लिये (सतु) होवें।

भावार्थ—यहापर आचार्यने वताया है कि भेदविज्ञानकी सवसे पहले प्राप्ति करनी उचित है। आत्मा और शरीरादि कर्म ये दोनो दूध पानीकी तरह मिले हुए हैं। और इनका सवध भी अनादिकालसे प्रवाहरूप चला जाता है। कर्माण व तैजस शरीरोसे तो यह जीव कोई क्षण भी अलग नही होता है। कर्मो के उदयके निमित्तसे ही अज्ञान और रागद्वेषादि भाव होते हैं, जो जिनवाणीके भले प्रकार अभ्यासके वलसे अपने आत्माको विलकुल शुद्ध परमात्माके समान जाने और सर्व रागादि भावो को व परद्रव्योको अपने आत्मासे भिन्न जाने तथा इस ज्ञानको वारवार मनन कर पक्का ज्ञान प्राप्त करले तव उसकी वुद्धिसे परमे राग हटता है और अपने आत्मस्वरूपमे रमणताकी शक्ति

पैदा होती है, तब इसके ध्यानका अभ्यास होता है। जितना आत्मध्यानका वीतरागतारूप अभ्यास बढता जाता है उतना उतना कर्मका मैल कटता जाता है। आत्मध्यानके ही अभ्यास से धर्मध्यानकी पूर्णता व शुक्लध्यानकी जागृति महान मुनियोके जो इसी शरीरसे मोक्ष जानेवाले हैं होती है। इसी शुक्लध्यान मे घातियाकर्मोंको नाशकर वे केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं तब उनको सर्व द्रव्य अपने गुण व अनंत पर्याय सहित विना किसी क्रमके एक ही कालमे झलक जाते हैं। उस समय उनको सब ही देव, मानव, साधु, सत नमस्कार करते व पूजन करते व उनका धर्मोपदेश पानकर तृप्त होते हैं। वे उस समय इसी रत्नत्रयमई मोक्षमार्गको बताते हैं जिसपर चलकर वे स्वय परमात्मा सर्वज्ञ हुए है। आचार्य भावना भाते हैं कि हम भी ऐसे अरहंतोंके वचनोंपर श्रद्धा लाकर व उनहीकी तरह आत्मध्यानका अभ्यास कर शुद्ध हो जावें और मोक्षके अनुपम आनद को प्राप्त कर लेवें। प्रयोजन यह है कि विना किसी इच्छाके व मानरहित होकर जो शुद्ध आत्मध्यान करते हैं वे ही परमसुखी होते हैं। मलीन ध्यानसे कभी शुद्धि नही होसकती है।

श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशतिमे कहते हैं—

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् ।
सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्व तदेतत्परम् ॥
यच्च न्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकार्यादि वा ।
श्रुत्वा शास्त्रशतानि सप्रति मनस्येतच्छ्रुत वर्तते ॥५॥

भावार्थ—जो जाननेवाला है वही देखनेवाला है, वह सदा ही अपने चैतन्य स्वभावको नही त्यागता है। और वही मैं हूं कोई दूसरा नही हूँ। मेरे जीव तत्वको छोडकर दूसरा कोई भी

तत्व मेरा कभी भी नहीं है। मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय जो क्रोध आदि कार्य हैं वे सब कर्मोंकि द्वारा पैदा हुए हैं। सैकडो शास्त्रो को सुनकर मेरे मनमें यही तत्व विद्यमान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो दुर्लभ इस आत्म देह अंतर लहि शीघ्र ज्ञानी भये।
वे मुनि निर्मल ध्यान अग्नि सेती अघकाष्ट वालत भये॥
केवल नेत्र प्रकाश सर्व लखके त्रैलोक पूजित भये।
शिवमारग उद्योतकार सिद्धी हम होय भावत भये॥९४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुनीश्वरोका चारित्र ही आश्चर्यकारी है जो कर्मोंको नाश कर देता है—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्ध्वे विपापैर्वसि॥
दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहतेदेदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते॥९५॥

अन्वयार्थ--(येषां) जिनकी (ज्ञानकृशानु) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (उज्वलतर) अपने प्रकाशमे बढी हुई (सम्यक्त्ववातेरित) सम्यग्दर्शनरूपी हवासे धौंकी हुई (विपापैर्वसि दग्धे) कर्मरूपी ईंधनको जला देनेपर (दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहते) व मनको आकुलित करनेवाले सर्व रागादिक अन्धकारको दूर कर देनेपर (विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमिति) सर्व पदार्थोंके व तत्वोंके समूह को एक ही काल स्पष्ट प्रकाश करती हुई अर्थात् केवलज्ञान रूप होती हुई (सर्वदा) सदा ही (देदीप्यते) जलती रहती है (ते चित्रचरिता) ऐसे विचित्र आचरणके (चारित्रिण) आचरण करनेवाले साधुगण (कस्य) किसके भीतर (आश्चर्यं) आश्चर्य

अस्माक पुनरेकताश्चयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण-
स्फारीभूतमतिप्रवधमहसामात्मैव तत्त्व परम् ॥१३॥

भावार्थ--जव हम व्यवहार मार्गमे चलते हैं तव हम श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी प्रतिमा, जिन गुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सवकी भक्ति करते हैं परन्तु हम जव निश्चय मार्गमे जाते हैं तव प्रगट चैतन्यगुणसे झलकती हुई भेदविज्ञानकी ज्योति जल जाती है उस समय हम एकभावमे लय होजाते हैं तव हमको उत्कृष्ट तत्व एक आत्मा ही अनुभवमे आता है। अर्थात् जहा शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य कुछ अनुभवमे न आवे वही निर्मल आत्म ध्यान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि वढती सम्यक्तकी पवनसे।
ईंधन कर्म जलाय दोष मन सव कर दूर निज रमनसे॥
उनके केवलज्ञान रूप होकर नित आप जलती रहे।
तिन मुनि पालनहार आत्मचर्या आश्चर्य करती रहे॥६५॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि जवतक किंचित् भी स्नेहका लगाव रहेगा तवतक कर्मोका नाश न होगा। इसलिये ध्यानी को वीतरागी होना चाहिये—

यावच्चेतसि वाह्यवस्तुविषय स्नेह स्थिरो वर्तते।
तावन्नश्यति दु खदानकुशल कर्मप्रपच कथम्॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटा शुष्यन्ति किं पादपा।
मृज्जत्तापनिपातरोधनपरा शाखोपशाखान्विता ॥६६॥

अन्वयार्थ-(यावत्) जवतक (चेतसि) चित्तमे (वाह्यवस्तु-विषय) वाहरी पदार्थ सम्वन्धी (स्नेह) राग (स्थिर) स्थिरतासे

(वर्तते) पाया जाता है (तावत्) तबतक (दु खदानकुशल) दु ख देनेमे कुशल ऐसा जो (कर्मप्रपच) कर्मोंका जाल सो (कथ) किस तरह (नश्यति) नाश हो सकता है ? (बसुघातलस्य) जमीनके तलेके (आर्द्रत्वे) गीलेपनेके होते हुए (भृञ्जत्तापनिरोधनपरा) अत्यन्त सूर्यके आतापको रोकनेवाले (शाखोपशाखान्विता) शाखा तथा उपशाखासे पूर्ण (सजटा) तथा जटावाले (पादपा) वृक्ष (किशुष्यति) कैसे सूख सकते हैं ? अर्थात् नही सूख सकते हैं ।

भावार्थ—कर्मरूपी वृक्ष अनेक दु खरूपी कांटोसे भरा हुआ है इसकी पुष्टि रागरूपी जलसे होती रहती है । जहातक राग का जल सिंचन होता रहता है वहाँतक यह कर्मरूपी वृक्ष बढता जाता है । यदि कोई चाहे कि इस कर्मरूपी वृक्षकी बाढ न हो किन्तु यह सूखकर गिर पडे तो उपाय यही है कि इसमे रागरूपी जलका सिंचन बन्द किया जावे तब यह शीघ्रही गिर जावेगा । एक वनमे अनेक वृक्षोके समूह हैं जिनकी बडी २ शाखाए हैं व जिनपर जटाए हैं ये वृक्ष बराबर बढते रहते है, जबतक इनकी जडोमे जमीनकी तरी मिलती रहती है । जब जमीनकी तरीका पोषण नही मिलता है तब वे बडे२ वृक्ष भी सूखकर गिर जाते हैं ।

वास्तवमे कर्मोंके नाशका उपाय वीतराग विज्ञानमई जिनधर्म है । अविरत सम्यग्दृष्टीको इस जिनधर्मका लाभ हो जाता है तब उसके कर्मवृक्षकी जड बिलकुल ढीली पड जाती है, अनतानुबंधी कषायका उदय नही रहता है । येही कषाय कर्मकी जडको मजबूत करनेवाले हैं । मात्र अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण व सज्वलन कषायका उदय सम्बधी राग है सो कर्म

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जवतक मनमे वाह्यवस्तु इच्छा थिररूप वर्तन करै ।
तवतक दुखकर कर्म जाल कैसे यह जीव चूरन करै ।।
पृथ्वीतलमे जलपना जु जवतक नहि वृक्ष हैं सूखते ।
सूरज ताप निरोध कर सुशाखा उपशाखमे लू बते ।।९६।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो विषयभोगोके लिये तपको छोड देते हैं वे निन्दा के योग्य है—

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम् ।
सूरीणाँ यदनश्वरीमनुपमा दत्ते तप सपदम् ।।
तच्चित्र परम यदत्र विषय गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौ यदनेकदुखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ।।९७।।

अन्वयार्थ—(यत्)जो (चक्री) चक्रवर्ती (तपसे) उस तपके लिए (यत्) जो (तप) तप (सूरीणा) साधुओको (अनश्वरी) अविनाशी (अनुपमा) और उपमा रहित (सपदम्) मोक्षलक्ष्मी को (दत्ते) देता है (चक्र) चक्रवर्तीके राज्यको (अपाकरोति) छोड देते हैं (तत्) सो (सताम्) सज्जनोके लिए (चित्त) आश्चर्यकारी (न) नही है। (यत्) जो (अत्र) इस ससारमें (असौ) कोई साधु (तप) तपको (हित्वा) छोडकर (विषय) उस इद्रियके विषयभोगको (गृहणाति) ग्रहण करता है (यत्) जो विषयभोग (अवरे भीमे भवाम्भोनिधौ) इस महान भयानक ससारसमुद्रमे (अनेकदु खम्) अनेक दु खोको (दत्ते) देने वाला है (तत्) यह वात (परम चित्र) वहुत ही आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—यहापर आचार्यने वताया है कि वुद्धिमान प्राणीको

उच्च और उत्तम तथा नित्य पदार्थके लिए नीच व जघन्य व अनित्य पदार्थको अवश्य त्याग देना चाहिए। चक्रवर्ती राज्य करते हुए विषय भोगते हैं परन्तु उनको विषयभोगोसे कभी तृप्ति नही होती है। विषयभोग सुख ही ऐसा है कि जो तृष्णाको शान्त करनेके स्थानमे और अधिक वढा देता है। इसलिए वे चक्रवर्ती अपने शास्त्रज्ञानमे इस वातको भले प्रकार निश्चय करते है कि अविनाशी व अनुपम सुख अपने आत्माहीके पास है और वह सुख आत्मध्यानमे ही हासिल हो सकता है, निराकुलताने उस आत्मध्यानको साधु महात्माही कर सकते है। इस अनुपम मोक्ष-सुखके लिए तीर्थंकरादि वडे२ राजा राज्यपाट छोडकर साधु होगए और साधु होकर तप साध मोक्षको पहुंच गये। ऐसा जान चक्रवर्ती भी चक्रादि सम्पदा को छोडकर तप धारण करलेते है। आचार्य कहते हैं कि इसमे कोई आश्चर्यकी वात नही है क्योकि जो कोई वह काम करे जिसे सर्व बुद्धिमान लोग करते आरहेहैं तथा जो परमोत्तम फलका कारण है तो उसमे सज्जनोको कोई अचम्भा नही दिखता है, यह तो उसने अपना कर्तव्य पालन किया। परन्तु आश्चर्य तो इस वातमे है कि जो कोई उत्तम तप करनेके लिए साधुपदकी क्रियाओंको धारण करे और फिर उस साधुपदको क्षणभगुर अतृप्तिकारी विषयभोगोके लिए छोडदे यह वडे आश्चर्यकी वात है। क्योंकि जिन रत्न मिल रहे हो वह रत्न छोडकर काचके टुकडोंको

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

अपारससारसमुद्रतारक न तन्वते ये विषयाकुलास्तप ।
विहाय ते हस्तगतामृत स्फुट पिबन्ति मूढा सुखलिप्सया विप ।।
८६८।।

भावार्थ- जो इन्द्रियोंके विषयोके पीछे आकुल व्याकुल रहते हैं वे इस अपार ससार समुद्रसे पार उतारनेवाले तपको साधन नही करते हैं वे मूर्ख मानो हाथमे आए हुए अमृतको छोडकर सुखकी इच्छासे विषको पीते हैं ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छद । ५७

चक्री तपके काज चक्र छोडे आश्चर्य कुछ है नही ।
अनुपम सपत् नित्य तप जु देवे साधुजनोको सही ।।
जो तप तजके विषय भोग करते आश्चर्य भारी रहा ।
इन भोगोसे दु ख घोर सहते भवदधि भयानक महा ।।६८।। ५८

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि आत्माके सिवाय सर्व बाहरी पदार्थ त्यागने योग्य है—

शिखरिणी छन्द

रामा पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता वह्लनर्थाः ।
गात्र व्याध्यादिपात्र जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेषा ।।
कि रे दृष्ट त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु–
र्येन त्व स्वार्थनिष्ठो भवसि न सतत वाह्यमत्यस्य सर्व ।६८

अन्वयार्थ—(मूढ) रे मूर्ख! (रामा) स्त्रियें (पापाविरामा) पापोकी खान हैं अर्थात् पापोको उत्पन्न करानेवाली हैं (तनय-परिजना) पुत्र व अन्य परिवार (बहु अनर्था निर्मिता) अनेक अनर्थोंके कारण हैं (गात्र) यह शरीर (व्याध्यादिपात्र) रोग आदि कष्टोका ठिकाना है (अशेषा लक्ष्मी) सम्पूर्ण लक्ष्मी

(जितपवनजवा) पवनके वेगसे भी अधिक चंचल है (रे आत्मन्) हे आत्मन् (त्वया) तूने (भवगहनवने भ्रमता) इस संसारके भयानक वनमें भ्रमण करते हुए (मोक्षहेतु) सुखका कारण (किं दृष्टं) क्या देखा है ? (येन) जिस कारणसे (त्वं) तू (सर्व बाह्यं) सर्व बाहरी पदार्थको (अत्यस्य) भले प्रकार त्याग करके (सतत) सदा (स्वार्थनिष्ठ) अपने आत्मामें लीन (न भवसि) नहीं होता है।

भावार्थ—आचार्यने दिखलाया है कि यह मोही जीव जिन जिन सांसारिक पदार्थोंको अपना माना करता है वे सब पदार्थ इस आत्माके सच्चे हितमें बाधक हैं। आत्माका यथार्थहित स्वात्मानुभवकी प्राप्ति करके आत्मानंदका विलास करना है और धीरे २ कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्द पाना है। इस वैराग्यमई कार्यमें जितने भी रागके कारण हैं वे सब बाधक हैं। स्त्रियोंका सम्बन्ध वास्तवमें गृहजंजालका बीज है, मोहको पैदा करानेवाला है। पुत्र पुत्रियोंकी संततिका व उनके साथ अनेक आरम्भ परिग्रहकी वृद्धिका कारण है अतएव अनेक हिंसादि पापोंके विस्तार करानेका निमित्त है। पुत्र व परिवार सर्व मोहके कारण हैं, उनके रागमें फंसा हुआ प्राणी आत्महितसे दूर हो जाता है। उनके निमित्तसे बहुतसे न करनेयोग्य कामोंको मोही जीव कर डालता है। शरीरका सम्बन्ध भी दुःखहीका हेतु है। क्षुधातृषा तो इसके नित्यके रोग हैं। ज्वर, खांसी, स्वास, फोड़ा फुंसी आदि अनेक रोग और इसके साथ लगे हुए हैं। जिस लक्ष्मीको पाकरके ये प्राणी संतोष मानते हैं उसके रहनेका बहुत कम भरोसा है। पुण्यके क्षय होते ही राज्यका भी नाश हो जाता है। क्षण मात्र में धनवान प्राणी निर्धन होजाता है।

ऐसी दशामे कौनसा ऐसा पदार्थ इस जगतमे है जो प्राणीको सुखका कारण हो ? वास्तवमे क्षणभगुर चेतन व अचेतन पदार्थों के साथ रहनेका जब भरोसा नही है तब इनके निमित्तसे सुखी होना मानना मात्र भ्रम है। इस ससारके भयानक वनमे जिस जिस शरीरका व बाहरी पदार्थका आश्रय लिया जावे वे सब नाशवन्त प्रगट होते हैं तब उनसे स्थाई सुख कैसे होसक्ता है ? इसलिये आचार्य शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपनी भूलको छोड और अपना मोह सर्व ही बाहरी पदार्थोंसे हटा । मात्र एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमे लीन हो जा, इसीसे तेरा भला होगा ।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

श्रियोपाया घ्रात स्तृणजलचर जीवितमिद ।
मनश्चित्र स्त्रीणाँ भुजगकुटिल कामजसुखम् ।।
क्षणध्वसी काय प्रकृतितरले यौवनधने ।
इति ज्ञात्वा सन्त स्थिरतग्धिय श्रेयसि रता ।।३३२।।

भावार्थ—राज्यपाटादि लक्ष्मी सब नाशवत हैं, यह जीवन घासपर पडे हुए ओसकी बून्दके समान चचल है, स्त्रियोंके मन की गति बडी विचित्र है। कामभोगका सुख सापकी चालके समान बडा टेढा व सदा एकसा रहनेवाला नही है। यह शरीर क्षणभरमे नाशवन्त है तथा युवानी व धन स्वभावसे ही चचल हैं ऐसा जानकर अति स्थिर बुद्धिके धारी सत पुरुष इन पदार्थोंमे रति न करके अपने आत्मकल्याणमे लग जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । ३३

महिला सग निवास पापकारी सुत वधु आपत्ति कर ।
है यह तन रोगादि कष्टकारी धन सर्व थिरता विगर ।।

रे मूरख भववन महान भ्रमते क्या सौख्य कारण लखा ।
जिनसे तू सब बाह्यवस्तु तजके निजस्वार्थमें नहीं बसा ॥९८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मात्र ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त नहीं होती रत्नत्रयकी जरूरत है—

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासति सिद्धिं ॥
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ॥९९॥

अन्वयार्थ—(ये मूढा) जो मूर्ख पुरुष (अनघ) निर्दोष (सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयम्) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नोंके (ऋते) विना (ज्ञानमात्रेण) अकेले एक ज्ञानसे (जन्मदुर्गं) संसारके किलेको (लंघित्वा) लाँघकर (निरुपमितसुखांसिद्धि) अनुपम सुखको रखनेवाली सिद्धिको (यियासति) पाना चाहते हैं (ते) वे (नूनं) मानो (बाहुयुग्मेन) अपनी दोनों भुजाओंसे (कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् उदधिं) कल्पान्तकालकी पवनसे उद्धत तथा जलचरोंसे भरे हुए समुद्रको (तीर्त्वा) तरकरके (निजपुरम्) अपने स्थानको (शिश्रीषन्ति) जाना चाहते हैं।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने दिखलाया है कि मोक्षका उपाय रत्नत्रयकी एकता है। मार्गको जान लेने मात्रसे ही कार्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती है। जो ऐसा मानते हैं कि हमने आत्माको पहचान लिया है अब हमें कुछ भी चारित्र पालनेकी आवश्यक्ता नहीं है, हम चाहे पाप करें चाहे पुण्य करें हमें बंध नहीं होगा, वे ऐसे ही मूर्ख हैं जैसे वे लोग मूर्ख हैं जो यह चाहें कि हम अपनी भुजा-

भावार्थ--सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इन्द्रियदमन सहित जो जीव चारित्रको पालनेवाले हैं वे सर्व ही सफलताको पालेते हैं क्योंकि चारित्रके विना उन सबका होना व्यर्थ है ऐसा जान कर सत पुरुष चारित्रका यत्न करते हैं। चारित्र वही है जहा कषाय न हो। कषायकी वृद्धिसे चारित्रका नाश होजाता है। जब कषाय शाँत होती है तब ही आत्माके पवित्र चारित्र होता है।

जो मूरख इक ज्ञान मात्रसे ही भव दुर्ग लाँघन चहे।
निर्मल दर्शनज्ञान वृत्त विनगहि निजसुख प्रकाशन चहे ॥
ते मानो युग बाहु सेहि तरकर निजथान जाना चहे।
जो सागर कल्पाँत वायु उद्धत जलचर महा भर रहे ॥९९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु रत्नत्रय सहित तप करते हैं उनहीका जीतव्य सफल है।

शार्दूलविक्रीडित ।

ये ज्ञात्वा भवमुक्तिकारणगण बुद्धया सदा शुद्धया।
कृत्वा चेतसि मुक्तिकारणगण त्रेधा विमुच्यापरम् ॥
जन्मारण्यनिसूदनक्षमभर जैन तप कुर्वते।
तेषा जन्म च जीवित च सफल पुण्यात्मना योगिनाँ ॥१००॥

अन्वयार्थ—(ये) जो मुनिगण (सदा) सदाही (शुद्धया बुद्धया) निर्मल बुद्धिके द्वारा (भवमुक्तिकारणगण) ससारके कारणोको और मोक्षके कारणोको (ज्ञात्वा) जान करके (त्रेधा) मन, वचन, काय तीनोसे (अपर) इस जो ससारके कारण हैं उनको (विमुच्य) त्याग करके (चेतसि) अपने चित्त मे (मुक्तिकारणगण) मोक्षके कारण रत्नत्रयको (कृत्वा) धार

करके (जन्मारण्यनिसूदनक्षमभर) ससाररूपी वनके नाश करने को समर्थ ऐसे (जैन तपः) जैनके तपको (कुर्वते) साधते है (तेषा पुण्यात्मना योगिनां) उन्ही पवित्रात्मा योगियोका (च) ही (जन्म) जन्म जन्म (च जीवित) और जीवन (सफल) सफल है।

भावार्थ—यहा आचार्यने यथार्थ मोक्षपर चलनेवाले तपस्वी योगियोकी महिमा कही है,वास्तवमे यथार्थ बातयही है कि विना किसी माया, मिथ्या, या निदान शल्यके एक मुमुक्षुको अपनी बुद्धि निर्मल करके शास्त्रका अभ्यास और गुरुका सेवन तथा स्वानुभव पूर्ण युक्तिके वलसे यह भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिए कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र तो ससारके कारण है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र मुक्तिके कारण हैं। फिर उसे उचित है कि ससारके कारणोको मन, वचन, कायसे भले प्रकार छोड दे और रुचि-पूर्वक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रको ग्रहण करे। निश्चयसे इन तीनोकी एकतामे जो भाव पैदा होता है उसको स्वानुभव कहते हैं। इस स्वानुभवको करते हुए जो जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए वारह प्रकारके तपोको या मुख्यतासे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याते हैं वे,ही उनकर्मोकी निर्जरा करनेको समर्थ हो सकते हैं जो कर्म इस जीवको ससारके भयानक वनमें भ्रमण करानेवाले हैं, ऐसे ही पवित्र महात्मा योगी इस भवसागरको पार करके सिद्धवासको शीघ्र पालेते है। ऐसे ही योगियोका जन्म भी सफल है तथा जीना भी सफल है। सच्चे धर्मकी नौका जिनको नही मिलती है वे भव समुद्रमे भटक भटककर अपना जीवन पूरा करते हैं। रत्नत्रयमई जहाजका मिलना वास्तवमे दुर्लभ है। जिनको मिल जावे उनको प्रमाद

छोडकर इमीपर चढ करके शिव महलमे जा पहुँचना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

विनिर्मल पार्वणचद्रकात यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञ ।
मानी कुलीनो जगमोऽभिगम्य कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धि ।२३६।

भावार्थ—जिस पुरुषके अत्यन्त निर्मल पूर्णमासीके चद्रमा के समान चारित्र होता है वही गुणवान है, वही माननीय है, वही कुलीन है, वही जगतमे वन्दनीय है, उसीका जन्म सफल है तथा वही महान बुद्धिका धारी है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द। 100

जो नितनिर्मल बुद्धिधार समझे ससार शिव हेतुको।
छोड भवके हेतु तीन सेती चित राख शिव हेतुको ॥
साधे जैन तप जु नाशकर्त्ता ससार वन भर्मको।
शुचि योगी जीतव्य जन्म अपना करते सफल धर्मको ।१००।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि विषयसेवन विष खानेके समान हैं—

शार्दूलविक्रीडित छद।

यो नि श्रेयसशर्मदानकुशल सत्यज्य रत्नत्रयम् ।
भीम दुर्गमवेदनोदयकर भोग मिथ सेवते ॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनक हालाहल वल्भते ।
सद्यो जन्मजरातकक्षयकर पीयूषमत्यस्य स ॥१०१।

अन्वयार्थ—(य) जो कोई (नि श्रेयसशर्मदानकुशल)मोक्षके सुख देनेमे चतुर ऐसे (रत्नत्रयम्) रत्नत्रयको (सत्यज्य) छोड करके (भीम दुर्गमवेदनोदयकर)भयानक और अचित्य वेदनाको पैदा करनेवाले (भोग) भोगको (मिथ)एकांतमे छिपके(सेवते)

सेवन करता है (मन्ये) मैं ऐसा मानता हूँ कि (स) वह (जन्म-जरांतकक्षयकर) जन्म जरा मरणको क्षय करने वाले (पीयूष) अमृतको (अत्यस्य) छोडकर (सद्य) शीघ्र ही (प्राणविपर्यांदि-जनक) प्राणोके घात करनेवाले (हालाहल) हालाहल विषको (वल्भते) पीता है।

भावार्थ—यहा आचार्यने बताया है कि सच्चा सुख आत्मा मे ही है और वह अपने आत्माके सच्चे स्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान, व चारित्रसे अर्थात् स्वात्मानुभवसे अनुभवमे आता है। इसी निश्चय रत्नत्रयके द्वारा मोक्षदशामे अनत आत्मीक सुख प्राप्त होता है। इस सुखके सामने इद्रिय भोगोका सुख ऐसा ही है जैसे अमृत के सामने विष। जैसे अमृतके खानेसे क्लेश मिटता व पुष्टि आती है वैसे आत्मीक सुखके भोगसे जन्म, जरा, मरण के रोग मिट जाते हैं और यह जीव अविनाशी अवस्थामे बना रहता है। जैसे विष हालाहलके पीनेसे महाकष्ट होता है तथा प्राणोका वियोग होजाता है वैसे विषयभोगोके करनेसे पापकर्म का बन्ध होता है जिसके उदयसे नानाप्रकारके दु ख भविष्यमे प्राप्त होते हैं इसलिए यह शिक्षा दी जाती है कि इद्रिय विषय-भोगोकी लालसा छोड़कर एक आत्मीक सुखके लिए आत्मानु-भव करना जरूरी है।

आत्मीक सुखके भोगमे वीतरागता रहती है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है जबकि इद्रियभोगोमे अवश्य तीव्र रागभाव करना पडता हैं जिससे पापकर्मोका बन्ध होजाता है। वर्तमान मे इद्रिय सुख जब तृष्णाको बढानेवाला है तब आत्मीक सुख परम सन्तोषको व सुख शातिको देनेवाला है। आत्मीक सुख स्वाधीन है जब कि इद्रिय सुख पराधीन है। सम्यग्दृष्टीको

विषयोकी इच्छा छोडकर आत्म सुखका ही उद्यम करना चाहिए ।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

मुख प्राप्तु बुद्धिर्यदि गतमल मुक्तिवसतौ ।
हित सेवध्व भो जिनपतिमत पूतरचितम् ॥
भजध्व मा तृष्णा कतिपयदिनस्यापिनि धने ।
यतो नाय सन्त कमपि मृतमन्वेति विभव ॥३३६॥

भावार्थ—यदि मुक्तिके स्थानमे निर्मल सुख पानेकी तेरी बुद्धि हो तो हे भाई ! हितकारी व पवित्र जिनमतका सेवन कर । कुछ दिन साथ रहने वाले धनादिमे तृष्णा न कर क्योंकि यह लक्ष्मी होती हुई भी किसीके साथ मरनेपर नही जाती है ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । 101

जो शिव सुख दातार रत्नत्रयको भ्रम भावसे छोडता ।
भयदायक अत्यन्त दुःखकारी इन्द्रिय विषय भोगता ॥
मैं मान सो जन्म मृत्यु क्षयकर पीयूषको त्यागता ।
जीवन कारण प्राण घातकर्ता हालाहल पीवता ॥१०१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि दुःख सुखमे जो समता धारण करते है उनको नया कर्मबन्ध नही होता—

हरिणी छन्द ।

भवति भविन सौख्य दुःख पुराकृतकर्मण ।
स्फुरति हृदये रागो द्वेप कदाचन मे कथम् ॥
मनसि समता विज्ञायेत्थ तयोर्विदधाति य ।
क्षपयति सुधी पूर्वं पाप चिनोति न नूतनम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(पुराकृतकर्मण)पिछले बाँधे हुए कर्मोंके उदयसे (भविन) इस ससारी प्राणीके (सौम्य दु ख) सुख तथा दु ख होता है। तब (मे हृदये) मेरे हृदयमे (कथम्) किसलिये (कदाचन) कभी भी (राग द्वेष) राग या द्वेष (स्फुरति) प्रगट होगा (इत्थ) ऐसा (विज्ञाय) समझकर (य) जो कोई (मनसि) मनके भीतर (तयो) उन दोनो सुख तथा दुखमे (समता) समभावको (दधाति) धारण करता है (सुधी) वह बुद्धिमान (पूर्व पाप) पहलेके पापको (क्षपयति) क्षय करता है (नूतनम्) नए पापको (न चिनोति) नही बाधता है।

भावार्थ—यहापर आचार्यने ब ाया है कि ज्ञानीको उचित है कि कर्मोके उदयमे समताभावको धारण करें। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि यह बात अच्छीतरह जानते हैं कि पूर्वकृत पुण्यके उदय से सुख तथा पापके उदयसे दु ख होता है। तथा कर्मोका उदय सदाकाल एकसा नही रहता है, यह अवश्य अनित्य है। विनाशीक वस्तुमे राग व द्वेष करना वृथा है समताभावसे सुख तथा दु खको भोगलेना चाहिए, जो कोई सुखकी अवस्था होने पर उन्मत्त तथा दु खो के होने पर क्लेशित नही होते उनके पूर्व के बाँधे कर्मोकी तो निर्जरा हो जाती है तथा नवीन कर्म नही बधता है। कर्मोकी निर्जरा होनेका बडा भारी उपाय समभाव सहित जीवन विताना है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानीकी रुचि अपने आत्माके स्वभावपर रहती है। वह आत्माके आनन्दका ही प्रेमी होता है। उसका अपनापना अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई सम्पदासे ही रहता है। वह मानो सर्व जगतके पदार्थों से उदास है। यही कारण है तो ज्ञानी मोक्षमार्गी है जब कि अज्ञानी ससारमे भ्रमण करनेवाला है।

अमितगतिमहाराज सुभाषित-रत्नसंदोहमें ज्ञानकी महिमा बताते हैं ।

ज्ञानाद्धित वेत्ति तत प्रवृत्ती रत्नत्रये सचितकर्ममोक्ष ।
ततस्तत सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्न विदधाति दक्ष ।।१८४।

भावार्थ—यह जीव ज्ञानके ही प्रतापसे अपने हितको समझता है तब उसकी प्रवृत्ति रत्नत्रय धर्ममें होती है। धर्मके सेवनसे पूर्व बांधे कर्मोंकी निर्जरा होजाती है तब बाधारहित सुख प्राप्त होता है इसलिए चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञानके सदा यत्न करते रहते हैं। तत्वज्ञानकी प्राप्ति के लिए हित कर्ता को उचित है कि श्री जिनेन्द्रकथित ग्रन्थोंका पठन मनन, सदा करते रहें।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पूरब कृत कर्मानुसार जियको सुख दुःख होता रहे।
मेरे मनमें राग द्वेष क्या हो ज्ञानी विवेकी रहे ।।
ऐसा जान जु साम्य भाव रखते निजतत्त्वको जानते।
काटे पूरव पाप बुद्धियुत ते नूतन नहीं बांधते ।।१०२।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कषाय सहित नर कर्मोंकी निर्जरा न करके कर्मोंका बांधनेवाला है-

क्षपयितुमना कर्मानिष्ट तपोभिरनिदितै ।
नयात रभसा वृद्धि नीच कषायपरायण ।।
वुधजनमै किं भेषज्यैर्निसूदितुमुद्यत ।
प्रथयति गद त नापथ्यात्कदार्थितविग्रहम् ।।१०३।।

अन्वयार्थ—(आनन्दितैं) उत्तम (तपोभि) तपोंके द्वारा (अनिष्ट कर्म) अहितकारी कर्मको (क्षपयितु मना) नाश करनेकी मनसा रखता हुआ (नीच) नीच मनुष्य (कषायपरायण)

क्रोधादिक कषायोमे लीन होता हुआ (रभसा) शीघ्र ही (वृद्धि नयति) कर्मोको और अधिक बढा लेता है जैसे (बुद्धजनमतै) बुद्धिमानोके द्वारा सम्मत (भेपज्यै.) औषधियोसे (कदाचितविग्रहम्) शरीरको दु खदाई (गद) रोगको (निसूदितुम्) नाश करनेके लिये (उद्यत) उद्यमी पुरुष (अपथ्यात्) अपथ्य सेवन करनेसे (त) उस रोगको (कि न) क्या नही (प्रथयति) बढा लेता है ।

भावार्थ—यहापर भी आचार्यने यही दिखलाया है कि कर्मों के नाश करनेकी मुख्य औषधि वीतरागभाव है । जितना भी बाहरी व अ तरग तप किया जाता है उस सबका हेतु कषायोका घटाव व वीतरागभावका झलकाव है । जो कोई तपस्वी होकर अनेक प्रकार शरीरको कष्टकारी तपको करे परतु कषायोका दमन न करे, शात भावको न प्राप्त करे तो उसके कर्मोकी निर्जरा न होगी । उल्टा और अधिक कर्मोका बध होजायगा । क्योकि बधका कारण कषाय परिणामोमे विद्यमान है । यहापर दृष्टांत देते हैं कि जैसे किसीको बहुत कठिन रोग होरहा है और वह अच्छे प्रवीण वैद्यकी बताई हुई औषधि लेरहा है परतु रोग वृद्धिके कारण जो अपथ्य या बद परहेजी है उसको नही त्याग रहा है तो वह कभी भी रोगसे मुक्त न होगा—उल्टा रोगको बढाएगा । प्रयोजन यह है कि वीतरागभावोकी प्राप्तिका सदा उद्यम करना चाहिये तथा ध्यान ही मुख्य तप है वह आत्मानुभवके समय पैदा होता है, जहाँ अवश्य वीतरागता रहती है । सम्यग्दृष्टीका तप ही सच्चा तप है । मिथ्यात्व सहित महान तप करता हुआ भी ससारका मार्गी है—मोक्षमार्गी नही है ।

मुमुक्ष जीवको इसलिए वीतराग भावपर ही लक्ष्य रखके

उसकी ही प्राप्तिका उपाय करना चाहिए।

श्री ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्र मुनि कहते हैं—

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्धमोक्षयोः॥
नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम्।
वृणोति वीतसंरम्भो वीतरागः शिवश्रियम्॥८४॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मोंको बांधता है जब कि वीतरागी उनसे छूटता है ऐसा संक्षेपसे जिनेन्द्रभगवानका उपदेश बंध तथा मोक्षके सम्बन्धमें जानना चाहिये। जो आरम्भरहित रागी वीतरागी साधु है वही नित्य आनन्दमयी, उत्तम अविनाशी, आत्मासे ही उत्पन्न मोक्षलक्ष्मीको वरता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो चाहे निज शुद्ध धर्म इतना निर्मल तपस्या करे।
पर जो तीव्र कषाय भाव रखता हो निज बंध वर्द्धन करे॥
जो चाहे तन दुःख नाश गदको इतना तु औषधि करे।
पर त्यागे न अपथ्य खाद्य सो नर निज रोग वर्द्धन करे॥१०३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु शरीरकी रक्षाके लिये आहार मात्र लेते हुए लज्जा पाते हैं वे वस्त्रादिक परिग्रहको कैसे स्वीकार करेंगे?

शार्दूलविक्रीडित छंद।

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापरा ।
दत्त येशनमात्रकगतमल धर्माथिभिर्दातृभि ॥
लज्जते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा-
स्ते गृह्णन्ति परिग्रह दसधरा कि सयमध्वसकम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (मुक्तिविषये) मोक्षके सम्बधमे (बद्धस्पृहा) अपनी उत्कण्ठाको बाधनेवले (निस्पृह) ससारीक इच्छाके त्यागी हैं और(सद्रत्नत्रयपोषणाय)सच्चे रत्नत्रय धर्मको पालनेके लिये (त्याज्यस्य) त्यागने योग्य (वपुष) इस शरीरकी (रक्षापरा) रक्षामे तत्पर हैं और जो (धर्माथिभि) धर्मात्मा (दातृभि)दातारोंसे(दत्त)दिये हुए(गतमल) दोष रहित(अशन मात्रक)भोजन पात्रको(परिग्रह)ग्रहण करके (लज्जते) लज्जाको प्राप्त होते हैं (ते दमधरा)वे सयमके धारी यति(किं)क्या(सयम ध्वसकम्) सयको नाश करनेवाली (परिग्रह)परिग्रहको(गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—यहाँ आचर्यने बताया है कि जैनधर्मको यथार्थ पालनेवाले साधुजन कभी भी परिग्रहको ग्रहण नही करते हैं। धन, धान्य आदि परिग्रह हिंसादि आरम्भका कारण है जिससे महाव्रत रूप साधुसयम नही पल सकता है। इसीलिये साधुजन सर्व परिग्रहको त्याग कर ही मुनि होते हैं। वे परिग्रहको ममता का निमित्त कारण जानते हैं। ऐसे साधुओंको किसी भी इद्रिय भोगकी कोई इच्छा नही होती है। वे मात्र कर्मोंसे मुक्ति ही चाहते हैं। उनको रातदिन भावना यही है। कि हम आत्मध्यान करके कर्मोंको काटकर मुक्त होजावें, ऐसे साधु सयम पालनेके लिये ही इस शरीरकी रक्षा करना चाहते हैं। इसलिये वे ऐसा ही भोजनपान शरीरको देते हैं जिसे धर्मात्मा श्रावकोने भक्ति पूर्वक दिया हो। तथा जिसमे उद्दिष्ट आदिका कोई दोष न हो। ऐसे भोजनको लेते हुए भी उनको लज्जा आती है और रातदिन यह भावना भाते हैं कि इस शरीरकी पराधीनता मिटे और यह आत्मा निराकुल भावमे तल्लीन हो ऐसे साधु कभी भी धन धान्यादि परिग्रहको जिसे वे सयममे बाधक जानकर त्याग कर

चुके, ग्रहण नहीं करते हैं । वे साधु अपनी प्रतिज्ञामें अटल रहते हुए रात्रि दिन तत्त्वज्ञानकी भावना भाते हैं । और पूर्ण वीतरागताके लाभके लिये उद्यम करते रहते हैं । तात्पर्य यह है कि परिग्रहका त्याग ही उत्तम ध्यानका साधक है इस बातको कभी भूलना न चाहिये ।

ज्ञानार्णवमें श्री शुभचंद्र मुनि कहते हैं—

रागादिविजय सत्य क्षमा शौच वितृष्णता ।
मुने प्रच्याव्यते नूनं सगैर्व्यामोहितात्मन ॥१४॥

भावार्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहमें मोहित होजाता है उसके रागादिकका जीतना, सत्य क्षमा, शौच और तृष्णा रहितपना आदि गुण नष्ट होजाते हैं ।

परिग्रहका मूर्छाका निमित्त कारण जानकर साधुजन उसे कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद ।

जो साधू नित मोक्ष उद्यम करें संसार नहिं चाहते ।
रत्नत्रय वप हेतु हेय तनको शुचि मुक्ति दे राखते ॥
धर्मी दाता दत्त खाद्य लेते मनमाहिं लज्जा धरें ।
सो यतिगण संयम विराधकर्ता परिग्रह न अंगी करें ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यथार्थ तत्त्वके ज्ञाता जगतमें दुर्लभ हैं—

ये लोकोत्तरता च दर्शनपरा दूर्ता विमुक्तिश्रिये ।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पंति शृण्वन्ति च ॥

जो बात अन्य शास्त्रोमे नही मिलती है। दृष्टातमे पदार्थ न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य है। हरसमय पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। गुणोके व स्वभावोके ध्रुवपनेकी अपेक्षा पदार्थ नित्य है जब कि पर्यायोके पलटनेकी अपेक्षा पदार्थ अनित्य है। अवस्थाएँ हर समय होती रहती हैं। इस तरहका कथन जिनवाणी ही स्पष्ट खोलकर बताती है। यह अवश्य मुक्तिरूपी स्त्रीके मिलनेके लिये दूती है क्योकि जो श्रुतज्ञान द्वारा भेद-विज्ञानका लाभ करते हैं और परसे भिन्न आत्माको अनुभव करते हैं वे सीधे मोक्ष रूप स्त्रीकी ओर चले जाते हैं। ऐसी जिनवाणीके कहे हुए तत्त्वोको श्रद्धान करनेवाले व कहने सुनने वाले वहुत कठिन हैं। परन्तु जो तत्वज्ञानके अनुसार मुनि हो आत्मध्यानका अभ्यास करके केवलज्ञानकी प्राप्तिका उद्यम करते हैं ऐसे महान पुरुष तो बहुत ही दुर्लभ हैं। उनके सम्बन्ध मे क्या शब्द कहा जावे सो कोई शब्द नही मिलता है।

प्रयोजन यह है कि आत्मानुभवके उद्योगको बड़ा ही अपूर्व लाभ जान करके जो आत्महित करना चाहें उनको प्रमाद न करके मुक्तिका साधन कर लेना चाहिये।

श्री पद्मनदि मुनि जिनवाणीकी स्तुतिमे कहते हैं—

कदाचिदवत्त्वदनुग्रह विना श्रुते ह्यधोतेपि तत्वनिश्चय ।
तत कुत पु मि भवेद्विवेकिता त्वया विमुक्तस्य तु जन्मनिरफल ११
त्वमेवतीर्थं शुचि वोधिवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धकारण ।
त्वमेव चानदसमुद्रवर्धने, मगाँकमूर्ति परमार्थदर्शिनाम् ॥२४॥

भावार्थ--हे जिनवाणी माता, तेरी कृपा विना शास्त्रको पढ़ते

व सुनते हुए भी तत्त्वका निश्चय नहीं होता है तब फिर तेरे आश्रय विना पुरुषमें भेदविज्ञान कैसे होगा ? जो तेरी सेवा नहीं करते उनका जन्म निष्फल है। तू ही पवित्रज्ञान जलको रखनेवाली नदी स्वरूप है तू तीन लोकके जीवोंको शुद्ध करने का कारण है और तू ही निश्चय आत्मतत्त्वके श्रद्धान करनेवालों को आत्मानन्दरूपी समुद्रके बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

जो जगतारण मोक्षलक्ष्मिदूती सद्दर्शन दायका,
अनुपम जिनवर वाणि पाठ करते सुनते रुची धारका।
ते सज्जन दुष्प्राप्य आज जगमें क्रोधादिमल पूर जो,
कहना क्या उनका स्वमुक्तिहेतू साधें परमज्ञान जो ।१०५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो इस संसारसमुद्रसे तर गए हैं वे अरहन्त इसी प्रकारकी शिक्षा देते हैं कि अन्य जीव भी तिरें—

ये स्तूया जन्मसिंधोरसुखमितिततेर्लीलया तारयित्वा ।
नित्यं निर्वाणलक्ष्मीं बुधसमितिमतां निर्मलामर्पयन्ते ॥
स्वाधीनास्तेऽपि यत्तद्व्यपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वा ।
पोष्यन्ते नान्यशिक्षा मम परममुखी विद्यते नात्र चित्रम्
॥१०६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (असुखमिततते जन्मसिंधो) दुःखोंके समूहसे भरे हुए संसारसमुद्रसे (लीलया तारयित्वा) लीला मात्र में पार उतारकर (स्तूयां) प्रशंसनीय (नित्यं) अविनाशी (बुधसमितिमतां) बुद्धिमानोंसे माननीय (निर्मलाम्) निर्मल (निर्वाणलक्ष्मीं) मोक्षलक्ष्मीको (अर्पयन्ते) प्रदान करते हैं (तेपि) वे

ही (स्वाधीना) स्वाधीन हैं (यतत्) क्योंकि (व्यपगततमोज्ञान-सम्यक्तपूर्वा) उनका अज्ञान अन्धकार सम्यक्तपूर्वक ज्ञान द्वारा नष्ट होचुका है वे (अन्यशिक्षां न पोष्यन्ते) अन्य शिक्षाकी पुष्टि नहीं करते हैं (अत्र) यहां (मम उरौ) मेरे दिलमें (पर चित्र) कोई परम आश्चर्य (न विद्यते) नहीं होता है।

भावार्थ—जो स्वयं जिस कामको सिद्ध करलेता है वह उस काममें दूसरेको भी लगाकर उसका उद्धार कर सकता है। अर्हन्त भगवान सम्यग्ज्ञानकी सेवा करके स्वयं कर्मोंके बंधनसे छूटकर स्वाधीन होगए। वे अपनी दिव्यवाणीसे इसी प्रकारकी शिक्षा देते हैं कि जो कोई सम्यक्तपूर्वक ज्ञानको प्राप्त करके आत्मानुभव करेगा वह संसारसमुद्रसे उसी तरह पार होजायगा जिस तरह हमने पार पालिया है। उनकी इस सम्यक् शिक्षा को ग्रहण करते हैं व उसपर चलते हैं वे भी शीघ्र संसारसमुद्र से पार होजाते हैं और उस मोक्षलक्ष्मीको पालेते हैं जिसके लिये सन्त पुरुष निरन्तर भावना किया करते हैं व जिसका कभी क्षय नहीं होता है तथा जो कर्ममलसे रहित निर्मल है। आचार्य कहते हैं कि जो स्वयं तर गए हैं उनके द्वारा यदि दूसरे तार लिए जाय तो कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है। जो जहाज स्वयं तैरता है वही दूसरोंको भी अपने साथ पारकर देता है। तात्पर्य यह है कि हमको श्री अरहंत भगवानकी परमोपकारिणी शिक्षाके ऊपर चलकर अपना आत्मोद्धार कर लेना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें अरहंतका स्वरूप बताते हैं—

भावाभावस्वरूप सकलमसकल द्रव्यपर्यायतत्व।
भेदाभेदावलीढ त्रिभुवनभुवनाभ्यन्तरे वर्तमानम्॥

लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकने यस्य बोध-
स्तं देव मुक्तिकामा भवभवनमिदे भावयन्त्वाप्तमत्र।६४७

भावार्थ—जिनका ज्ञान तीन लोकके भीतर पाए जाने वाले भाव तथा अभाव स्वरूप, अनेकरूप, व एकरूप, भेदरूप व अभेदरूप द्रव्योंकि और पर्यायोंके स्वरूपको देखते हुए लोक और अलोक दोनोंको देखनेवाला है उस सर्वदोष रहित अरहन्तदेवको यहां संसार-घरके नाश करनेके लिए मोक्षके चाहनेवाले सेवन करहु।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द।

जो भवसागर दुःखदाय क्षणमें भवि जीवको पारकर,
देते मोक्ष पवित्र नित्य लक्ष्मी जो चाहते ज्ञानधर।
वे हैंगे स्वाधीन सर्वतमहर सम्यक्तमय ज्ञानसे,
जो देते नहिं अन्य कोय शिक्षा नहिं मो अचम्भादिसे।१०६

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस संसारमें कोई वस्तु सुखदायक नहीं है—

ध्रुवापायः कायः परिभवभवाः सर्वविभवाः।
सदानार्या भार्या स्वजनतनयाः कार्यविनयाः॥
असारे संसारे विगतशरणे दत्तमरणे।
दुरारावेऽगाधे किमपि सुखदं नापरपदं॥१०७॥

अन्वयार्थ--(कायः) यह शरीर (ध्रुवापायः) निश्चयसे नाश होनेवाला है (सर्वविभवाः) सर्वसम्पत्तियें (परिभवभवाः) वियोग के सन्मुख हैं। (भार्या) स्त्रियें (सदा अनार्याः) सदा ही सुखकारी व हितकारी व सभ्यतामें व्यवहार करनेवाली नहीं हैं (स्वजनतनयाः) अपने कुटुम्बी या पुत्र (कार्यविनयाः) अपने मतलबसे विनय करनेवाले हैं। (दत्तमरणे) मरणको देनेवाले

(विगतशरणे) व शरणरहित (अगाधे) बहुत गहरे (दुराराधे) दुःखोंसे भी जिसका तरना कठिन है (असारे ससारे) ऐसे इस सारहित ससारमे (अपरपद) सिवाय मोक्षके दूसरा कोई पद (सुखद न) सुखका देनेवाला नही है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने बताया है कि यह ससार बिलकुल असार है। इसमे ससारी प्राणियोको थिरता प्राप्त नहीं होती-वे जन्मते मरते रहते हैं। उनको कोई मरणसे बचा नहीं सकता। इसका आदि व अन्त नही है तथा यह इतना विशाल है कि इसका पार करना कठिन है। इसमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्माको सुखदाई नही हैं। पहले तो यह शरीर ही नाशवत है, आयु कर्मके आधीन है, इसके छूट जानेका कोई समय नियत नही है। लक्ष्मी आदि बहुतही चंचल हैं, स्त्रियोका ससर्ग मोहमे फसानेवाला है व आत्मध्यानमे बाधक है। कुटुम्बीजन व पुत्रादि सब अपने२ मतलबको देखते हैं। जब स्वार्थ नही सधता है तब बात भी नही करते हैं। स्वार्थमे विरोधी पिताको भी पुत्र मार डालते हैं। इस ससारमे सबही मित्र आदि मतलबके ही साथी हैं। जिन २ चेतन व अचेतन पदार्थ का सग्रह किया जाता है कि इनसे कुछ सुख मिलेगा उनीका वियोग होजाता है। पराधीन सुख आकुलताका ही कारण है। इसलिए यही अनुभव करना चाहिए कि सच्चा सुख आत्मामे ही है। उसीकी चाह करके सामायिकका अभ्यास करना योग्य है। श्री अमितगति स्वामी सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता,
सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतय ।

मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपला सर्वभविना-

महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमना ॥३२६॥

भावार्थ—सर्व संसारी जीवोंके लिए ये रूप, स्थान, कुटुम्बी जन, पुत्र, पदार्थ, स्त्री, पुत्री, लक्ष्मी, यश, चमक, राग, बुद्धि, स्नेह तथा धैर्य सब मदसे उन्मत्त स्त्रीके नेत्रके स्वभावके समान चंचल हैं। अहो! बड़े कष्टकी बात है कि ऐसा जान करके भी यह मानव इन्द्रियोंके विषयोंको सेवन करता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छंद। १०७

है यह तन जु विनाशनीक लक्ष्मी है सर्व जग चंचला।

भार्या नित्य कुमोहकार स्वजना अरु पुत्र स्वारथसगा॥

है संसार असार शर्ण नहि को जब मृत्यु आजात है।

दुस्तर दुर्गम लोक माहि वस्तु सुखकरन दिखलात है।१०७

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरणसे कोई बच नहीं सकता।

मालिनी वृत्तम्।

असुरसुरविभूना हृति काल श्रियं यो।

भवति न मनुजाना विघ्नतस्तस्य खेद ॥

विचलयति गिरीणा चूलिकां य समीरो।

गृहशिखरपताका कपते किं न तेन ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(य काल) जो मरणरूपी काल (असुरसुरविभूनां) भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवोंके स्वामियोंकी (श्रियं) लक्ष्मीको (हृति) नाश करदेता है (तस्य) उस कालको (मनुजाना) मनुष्योंकी सम्पत्तियोंको (विघ्नत) हर लेनेमें (खेद) खेद (न भवति) नहीं होसकता है। (य समीर)

जो पवन (गिरीणां चूलिका) पहाडोकी चोटियोको (विचलयति) हिला देती है (तेन) उस पवनसे (गृहशिखरपताका) घरके शिखरकी ध्वजा (किं न कपते) क्यो न काप जायगी ?

भावार्थ--आचार्य दिखलाते हैं कि मरणसे कोई भी संसारी प्राणी बच नही सकता। बडी २ आयुके धारक व बडी सामर्थ्य के धारक इन्द्रादिक देवोको भी यह मरण नही छोडता है तब थोडी आयुधारी व थोडी सामर्थ्यधारी मनुष्योको तो मरण कैसे छोड सकता है ? जिस समय मरण आजाता है उस समय वह सब सम्पदा जिसको हम अपनी मान रहे थे बिलकुल छूट जाती है। मरण करते हुए जीवके साथ उसका बांधा पुण्य या पापकर्म तो जाता है परन्तु अन्य कोई चेतन व अचेतन पदार्थ बिलकुल साथ नही जा सकते हैं। वास्तवमे कर्मभूमिके हम मनुष्य तथा पशुओका जीवन तो पानीके बुदबुदेके समान चचल है क्योंकि जब देवोंके व भोगभूमि जीवो के अकाल मृत्यु कोई बाहरी क्षयकारी कारणके मिलनेसे होजाती है इसलिए हम लोगोंके जीवनको हर लेना तो यमराजके लिये बिलकुल सहज है। यह बात बिलकुल ठीक है कि जो हवा पर्वतोंके शिखरोको हिला सकती है उसके लिये घरके ऊपरकी पताकाको हिलाना क्या कठिन है ? कुछ भी नही ।

प्रयोजन कहनेका यह है कि जब हम लोग मरणके मुखमे सदा ही बैठे हुए हैं तब हम लोगोको धर्मसाधनमे व आत्महितमे प्रमाद न करना चाहिये ।

(मानव जन्ममे देवोके जन्मसे भी यह विशेषता है कि जिस सयम व ध्यानसे आत्मा परम पवित्र होसकता है वह सयम तथा ध्यान इस मानव शरीरमे ही हो सकता है। इसलिये इस जन्म के समयको बडा ही मूल्यवान समझकर हमे इसमे आत्महित

करलेना चाहिये।)

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

देवाराधनमन्त्रतन्त्रहवनध्यानगृहेज्याजप-
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनद्विजाद्विजार्चादिभिः॥
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानंगीकृतो भक्षितुं।
व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम्॥२९७॥

भावार्थ—जैसे वाघने पकड़ा हुआ प्राणी जंगलमें मरणसे बच नहीं सकता। इसीतरह जब इस प्राणीको भयानक यमराज भक्षण करता है तब देवपूजा, मंत्र, तंत्र, होम, ध्यान, ग्रहपूजा, जप, स्थानमें चले जाना, धरतीमें प्रवेश करना, विहारी साधु होजाना, ब्राह्मणोंकी सेवा आदि कोई बचा नहीं सकते।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

असुर सुर पतीकी जो विभूती छुडावे।
मानवको हरने खेद नहि काल लावे॥
पर्वतकी चोटी जो पवन डगमगावे।
गृह शिखरध्वजाको खेद विन सो उड़ावे॥१०८॥

उत्थानिका—आगे जगतके पदार्थोंकी चंचलताको दिखाते हैं—

द्रुतविलंबित छन्द।

सकललोकमनोहरणक्षमा करणयौवनजीवितसंपदः।
कमलपत्रपयोलवचंचला किमपि न स्थिरमस्ति जगत्रये॥१०९॥

अन्वयार्थ—(सकललोकमनोहरणक्षमा) सर्व लोगोंके मनको हरण करनेमें समर्थ (करणयौवनजीवितसम्पदः) इंद्रियोंकी युवानी व जीवन व सम्पत्तियें (कमलपत्रपयोलवचंचला) कमलके पत्तेपर पड़े हुए पानीकी बूंदकी तरह चंचल हैं (जगत्रये) तीनों ही लोकमें (किमपि स्थिर न अस्ति) कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है।

भावार्थ--यहाँ पर यह बताया गया है कि ससारमे हरएक अवस्था नाशवन्त है। जिन महापुरुषोंकी इन्द्रियोंकी रचना ऐसी सुन्दर होती है जो तीन लोकके प्राणियोंके मनको हरण करसके व जिनका जीवन अनेक सासारिक सुखोंसे पूर्ण होता है व जिनके पास चक्रवर्तीकीसी सम्पदा होती है ऐसे २ प्राणी इतनी जल्दी नष्ट होजाते हैं जैसे कमलके पत्ते पर पडी हुई पानीकी बूंद गिर जाती है। ससारके सर्व पदार्थोंको चचल समझ कर किसीसे भी मोह करना उचित नही है।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

वय येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेत्र सकला ।
सम यै सवृद्धा ननु विरमतां तेपि गमिना ॥
इदानीमस्माक मरणपरिपाटीक्रमकृता ।
न पश्यन्तोप्येव विषयविरतिं यान्ति कृपणा ॥३३७॥

भावार्थ—जिनसे हम पैदा हुए थे वे सब तो मर चुके, व जिनके साथ हम बढे थे वे भी वियोगको प्राप्त होगए, अब हमारा मरण होनेवाला है। जो दीन हैं वे ऐसा देखते हुए भी इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त नही होते हैं।

वास्तवमे चतुर पुरुषको ससारकी अनित्यताको ध्यानमे लेकर स्वहितमे प्रयत्न करना उचित है।

मूल श्लोकानुसार मालनी छन्द । 103

जगमनहरसम्पत् अक्ष यौवन स्वजीवन,
चचल हैं सारे, जिम कमलपत्र जलकण ।
इस सकल पदारथ तीन भूके अथिर हैं,
ज्ञानी ज्ञाता हो आत्महित बीच दृढ हैं ॥१०३॥

द्रुतविलंवित छन्द ।

बलवतो महिपाधिपवाहनो निरुर्निलिपपतीनपहृति य ।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रम ।११०

अन्वयार्थ—(य)जो (वलवन)वलवान(महिषाधिपवाहन) वडे भैसोकी सवारी करनेवाला ऐसा यमराज (निरुर्निलिपपतीन्) देवोंके स्वामियोको (अपहृति) नाश करदेता है (तस्य) उस कालको (अपरमानववर्गविमर्दने) दूसरे मानवोंके गर्वको खण्डन करनेमे (कदाचन) कभी भी(श्रम) मिहनत (न भवति) नही करनी पडती है ।

भावार्थ —इस श्लोकमे यह वताया गया है कि यह मरण किसीको भी छोडता नहीं है । बडे २ वलवान देवोके स्वामियो को क्षणमात्रमे नष्ट कर देता है तव अल्पायु धारी मानव व पशुओंकी तो वात ही क्या हैं । तात्पर्य यह है कि अपना मरण अवश्य एकदिन आनेवाला है ऐसा समझ कर आत्महितके साधनमे रचमात्र भी प्रमाद करनेकी जरूरत नही है । मरणसे कोई वच नही सकता ऐसा अमितगति महाराजने सुभाषितरत्न सदोहमे कहा है—

ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया ।
लोकालोकविलोकिकेवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधरा ॥
प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पद ।
तत्रान्यस्य कथ भवेद् भवभृत क्षीणायुपो जीवितम् ।३०८

भावार्थ—जिन तीर्थकरोंके चरणोको इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोकशिरोमणि पुरुप अपनी कातिरूपी जलसे धोते है, जो लोक अलोकको देखनेवाले ऐसे केवल ज्ञानरूपी राज्यलक्ष्मीके धारी

हैं, ऐसे तीर्थंकर भी आयुकर्मके समाप्त होनेपर इस शरीरको छोड़कर मोक्षको चले जाते हैं तो फिर अन्य अल्पायुधारी मानवोंके जीवका क्या भरोसा ?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द ।

जो यम हन डाले, देव इन्द्रादिकोको ।
वह बलशालिनको तीर्थं वय धारिकोको ॥
सो मानव वर्ग जो धरें आयु अल्पा ।
हनता अणभरमें नाहिं श्रम कोय कल्पा ॥११०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगतमें कोई वस्तु सुखदाई नहीं है—

स्वजनसंगतिरेव वितापिनी भवति यौवनिका जरसा रसा।
विपदवैति सखीव च संपदम् किमपि शर्मविधायि न दृश्यते ॥१११॥

अन्वयार्थ—(स्वजनसंगतिः) अपने बंधुजनोंकी संगति (एव) ही (वितापिनी) उनके वियोगमें दुःख देनेवाली होजाती है (यौवनिका) युवानी (जरसा रसा) बुढ़ापेके साथ है। (विपद्) आपत्ति (सखी इव) सखीके समान (संपदम्) संपत्तिके पास (अवैति) जाती है। (शर्मविधायि) सुख देनेवाली (किमपि) कोई भी वस्तु (न दृश्यते) नहीं दिखलाई पड़ती है।

भावार्थ—इस जगतमें जिस जिस पदार्थका संयोग है वह वियोगके साथ है। आज जिन स्त्री पुत्र मित्रोंके साथसे कुछ साता मालूम होती है यदि उनका वियोग होजावे या वे अपने अनुकूल वर्तन न करें तो ये ही पदार्थ दुःखदाई भासते हैं व उनके निमित्तसे चित्त सताप रहता है। जिस युवानीके मदमें चूर होकर हम शरीरके बलका व रूपका अहंकार करते हैं वह युवानी

मात्र थोडे दिन रहनेवाली है, एकदम वुढापा आजावेगा तव युवानीका पता ही नही चलेगा । आज धनसपदा राज्यविभूति दिखलाई पडती है,यकायक विघ्न आजाते हैं राज्य छूटजाता है, सम्पदाए चलीजाती हैं सपत्तिवान विपत्तियोमे फस जाता है,जिम पदार्थसे यह मोही जीव मुख मानता है वे ही पदार्थ नाशवत हैं व विगड जाते है, बस इस मोही जीवको महान दु खोका सामना करना पड जाता है । जगतका ऐसा क्षणभगुर स्वभाव जानकर ज्ञानी जीवको निरतर आत्मकल्याणके सन्मुख रहना चाहिये ।

श्री पद्मनदि मुनि अनित्यपचाशत्मे कहते हैं—

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रकायते निश्चित ।
सर्वव्याधिविवर्जितेपि तरुणो आशु क्षय गच्छति ॥
अन्यै कि किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयो ।
ससारे स्थितिरीदृशीति विदुपा क्वान्यत्र कार्यो मद ४८

भावार्थ—राजा भी क्षणमात्रमे निश्चयसे रक होजाता है । सर्व रोगोसे रहित जवान शरीर भी शीघ्र नाशको प्राप्त होजाता है लक्ष्मी और जीतव्य ये दोनो पदार्थ औरोकी अपेक्षा जगतमे सार है । जव इन ही दोनोकी ऐमी चचल हालत है तव विद्वान पुरुष और किस पदार्थमे मद करें ?

मूल श्लोकानुमार मालिनी छन्द ।

सगति निज जनकी, तापकारी वखानी ।
तनकी तरुणाई, वृद्धपन माहिं सानी ॥
आपद जा घेरे, मित्रवत् सपदाको ।
सुखप्रद जगवस्तू, दीखती नहिं कदाको ॥११२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मरणसे कोई भी रक्षा करनेवाला नही है—

सचिवमन्त्रिपदातिपुरोहिता।स्त्रिदशखेचरदैत्यपुरदरा ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुर भवभृत प्रभवति न रक्षितुम् ११२

अन्वयार्थ—(सचिवमन्त्रिपदातिपुरोहिता) दीवान, मन्त्री, पैदल, पुरोहित तथा(त्रिदशखेचरदैत्यपुरदरा) देव, विद्याधर, दैत्य, इन्द्र (यमभटेन) जमराजरूपी योद्धासे (पुरस्कृतम) पकडे हुए(आतुर) दुखी (भवभृत) ससारी प्राणीको (रक्षितुम्) रक्षा करनेको(न प्रभवति) समर्थ नही होते हैं ।

भावार्थ--यहापर आचार्य कहते हैं कि जब मरणका समय आजाता है तब कोई किसीको बचा नही सकता है। जिन सम्राटो के बडे२ मन्त्री, दीवान, पैदल, सिपाही व पुरोहितादि होते हैं व जिनके आधीन देव, विद्याधर, व्यतरादि होते हैं व इन्द्र भी जिन की भक्ति करता है ऐसे चक्रवर्ती तीर्थकरादि भी मरणके समय पर इस शरीरमे फिर नही रह सकते हैं। जब महान पुरुषोकी यह दशा है तब हम सबको तो कालके मुखमे बैठा हुआ ही अपने को समझना चाहिये, ऐसा निश्चय कर आत्मकल्याणमे जरा भी प्रमाद न करना चाहिये ।

पद्मनदि मुनि अनित्यपचाशत्मे कहते हैं--

कालेन प्रलय व्रजति नियत तेपीद्रचन्द्रादय ।
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशो शक्तेरदीर्घायुप ॥
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोह मुधा मा कृथा ।
काल क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किचिदन्विष्यताम्।५१

भावार्थ--जब इन्द्र, चद्र आदि भी मरणके द्वारा निश्चयसे नाश किये जाते हैं तब उनके मुकाबलेमे कीटके समान अल्पायु-वाले अन्य जनकी तो बात ही क्या है? इसलिये अपने किसी प्रियके

मरण हो जानेपर वृथा मोह नही करना चाहिये । इस जगतमे तू ऐसा कोई उपाय शीघ्र ढू ढ जिससे काल अपना दाव न कर सके ।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द । ॥११२॥

सेनापति मत्री, अर पुरोहित सिपाही ।
सुर असुर खगाधिप, इन्द्र वहुवल धराई ॥
जव यमभट जनको, लेत है दाव आई ।
दु खित हो प्राणी, नहि सके तब वचाई ॥११२

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि इस समारमे कोई अपना रक्षक नही है—

बलकृतोऽशनतोऽपि विपद्यते
यदि जनो न तदा परत कथम् ।
यदि निहन्ति शिशु जननी हिता
न परमस्ति तदा शरण ध्रुवम् ॥११३॥

अन्वयार्थ--(यदि)यदि (जन) यह मानव (वलकृत) शरीरको वलदाई (अशनत अपि) भोजनसे ही (विपद्यते) विपत्तिमे आजाते है, रोगी होजाते है तथा मरण कर जाते है (तदा) तव (परत)दूसरे विष आदि पदार्थोंसे.कथम्।किस तरह वच सकते हैं ? (यदि)जव(हिता).हितकारी (जननी) माता (शिशु) वच्चेको (निहति)मार डालती है(तदा) तव (ध्रुव) निश्चयसे (शरण) शरणामे रखनेवाला ,पर न अस्ति)दूसरा कोई नही है ।

भावार्थ--इस ससारमे कोई जीव किसीको मरणसे वचाने वाला नही है। जिस भोजनसे शरीरकी रक्षा होती है व वलदाई होता है वही भोजन रोगी प्राणीके लिए विपमज्वर पैदा करके उसके प्राणोका अन्त करनेवाला होजाता है । इस जगतमे कोई

कोई पशु ऐसे हैं कि जिनको जननेवाली माता ही उनका भक्षण करलेती है जहा माता ही बच्चेको खालेवे वहा और कौन बचाने वाला है ?

ऐसा जानकर मानवको आत्मानुभवके भीतर शरण लेनी चाहिये। यही इस जीवका सच्चा रक्षक है यही शुभ गतिमे व परम्परा मोक्षमे इस जीवको पहुचानेवाला है। वास्तवमे इस जगतमे कोई भी तीव्र कर्मके उदयको टाल नही सकता है।

पद्मनंद मुनि अनित्य पचाशतमे कहते हैं—

कि देव किमु देवता किमु गदो विद्यास्ति कि कि मणि ।
कि मत्र किमुताश्रय किमु सुहृत् कि वा सुगधोस्ति स ॥
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतय सन्त्यत्र लोकत्रये ।
ये सर्वेऽपि देहिन स्वसमये कर्मादित वारयेत ॥३२॥

भावार्थ—न कोई देव है न कोई देवी है न वैद्य है न कोई विद्या है, न कोई मणि है न मत्र है, न कोई आश्रय है न कोई मित्र है, न कोई गध है न कोई और राजा आदि इस तीन लोक मे है जो प्राणियोके उदयमे आए हुए कर्मको रोक सके।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द । ॥३

वलप्रद भोजन भी, प्राणिगण नाश करता ।
तव विप फल खाना, क्यो नही मर्ण करता ॥
हितकारी माता, बाल अपना हने है ।
कौन फिर इस जगतमे, शर्ण जिय राखले है ॥११३॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि इस जीवको अपनी करणीका फल अकेला ही भोगना पडता है—

विविधसग्रहकल्मपमगिनो विदधतेंगकुटु वकहेतवे ।
अनुभवत्यसुख पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्हम् ॥११४॥

अन्वयार्थ—(अगिन) यह शरीरधारी प्राणी (अगकुटुम्वकहेतवे) अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बके (विविधसग्रह-कल्मष) नानाप्रकारके पापके सचयको (विदधते) करते रहते है (पुन) परन्तु (एकका) अकेले ही (नरकवास) नरकके स्थानमे (उपेत्य) जाकरके (सुदुस्सह) अति दु सह (असुख) दु खको (अनुभवति) भोगते है।

भावार्थ—ये ससारी गृहस्थ अपने स्त्री पुत्रादिके मोहमे ऐसे अन्धे होजाते हैं कि उनके मोहमे और अपने शरीरके मोह मे पडकर नाना प्रकारके विषयोको भोगनेके अभिप्रायसे व धन के सचय करनेके लिए नीतिको उल्लघकर व वहुतसे परिग्रहको सचय करते हुए वहुतसा पाप वाध लेते हैं। जिस कुटुम्वके लिए मोही जीव पापका सचय करते हैं वह कुटुम्ब उस पापके फलके भोगनेमे सहकारी नही होता है। यह जीव अकेला ही उस पापके फलसे नर्कमे जाता है और वहा असहनीय दु खको वहुत काल पर्यन्त भोगता रहता है। वास्तवमे हरएक जीव अपने अपने भावोका जिम्मेदार है। अपने भावोसे जो पाप वाधता है उसका फल उसहीको स्वय भोगना पडता है ऐसा समझकर ज्ञानवानो को उचित है कि कुटुम्वके मोहमे पडकर उसके लिए अन्याय व अनर्थ न करे, अपनेको नीति व धर्म के मार्गसे विचलित न करे, स्वात्महित करते हुए परहित करना उचित है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं—

रे पापिष्ठातिदुष्टव्यसनगतमते निद्यकर्मप्रशक्त।
न्यायान्यानयाभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे ॥

किया, मनोहर वस्त्रोसे सज्जित किया, नाना प्रकार हाथी घोडे पालकी विमानादि सवारियोपर आरूढ किया, हीरे जवाहरातसे जडे हुए सुवर्णके मकानोमे विठाया व सुलाया। इस तरह दीर्घ कालतक इसकी सेवा की गई तो भी इस कृतघ्नोने मरते समय साथ न दिया तब स्त्री, पुत्र, मित्र भाई, बन्धु, सेना नौकर आदि अपना साथ कैसे दे सकते हैं ? ये तो विलकुल ही अलग है। ऐसा जान ज्ञानी जीवको किसीसे भी मोह नही करना चाहिए। आपही अपनेको अपने हित अहितका जिम्मदार समझकर सदा ही आत्महितमे लवलीन होना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते हैं —

एव सर्वजगद्विलोक्य कलित दुर्वारवीर्यात्मना ।
निस्त्रिंशेनसमस्तसत्त्वसमितिप्रध्वसिना मृत्युना ॥
सद्रत्नत्रयशातमार्गणगण गृह्णन्ति यच्छित्तये ।
सन्त शातधियो जिनेश्वरतप साम्राज्यलक्ष्मीश्रिता ।३१८।

भावार्थ— इस तरह सर्व जगतको अतुल वीर्यधारी, निर्दई व सर्व प्राणियोको नाश करनेवाले मरण द्वारा ग्रसित देखकर शान्त परिणामी व जिनेन्द्रकथित तपकी राज्यलक्ष्मीका आश्रय करनेवाले सन्त जन उस मरणके नाशके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई रत्नत्रय धर्मके तीक्ष्ण वाणो को ग्रहण करते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द। 115

जिस तनकी सेवा, काल वहु खूब कीनी ।
सुखकर मदिर रख, वस्त्र वाहन नवीनी ।
भोजन इष्ट दे, साथ सो भी न जावे ।
फिर जग है कोजन, सग अपना निभावे ॥११५॥

त नीन्द्रियाणि बलवन्ति सुदुर्जयानि ।
ये निर्जयन्ति भुवने बलिनस्त एके ॥९३॥

भावार्थ—जिनको सूर्य, चद्र, विष्णु, शकर, इन्द्रादिक जीत न सके ऐसी दुखदाई,बलवान व दुर्जय इद्रियोको जो जीत लेते है एक वे ही जगतमे बलवान हैं—

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द । ॥6

जिनने वश कीना, देव विद्याधरोको ॥
कैसे नहि जीतें, अक्ष सामान्यजनको ।
मद धर हस्तीकौ, सिंह जो दलमले है ।
को गिनती मृगकी, ताहि चूरण करे है ॥११६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोही जीव आत्महितोमे नही वर्तता है—

मरणमेति विनश्यति जीवित द्यु तिरपैति जरा परिवर्धते ।
प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जन ॥११७॥

अन्वयार्थ--(मरण एति) मरण आरहा है (जीवित विनश्यति) जिंदगी नाश होरही है (द्यु ति अपैति) युवानी दूर जा रही है (जरा परिवर्धने) बुढापा बढ रहा है (तदपि) तौ भी (प्रचुरमोहपिशाचवशीकृत) भयानक मोहरूपी पिशाचके वशमें पडा हुआ (जन) यह मानव (आत्महिते) अपने आत्मकल्याण मे (न रमते) नही प्रेम करता है ।

भावार्थ--यहा आचार्यने मोही जीवकी दशा बताई है । स्त्री पुत्र मित्र व इद्रियोके विषय इन्द्रादि पदार्थोमे अज्ञानी जीव ऐसा उलझ जाता है कि अपने सामने आपत्तिये मैजूद हैं तौ भी उनपर ध्यान नही देता है । यह देखता है कि दिनपर दिन

जिदगी पूरी होती चली जाती है। मरण अचानक आनेवाला है। शरीरकी चमक दमक घट रही है। जवानी वीत रही है, वुढापा आरहा है तौ भी धर्मकी ओर वुद्धि नही लगाता है। आत्माकी परलोकमे दुर्गति न हो इसकी चिता नही करता है। आत्मानुभव रूपी परमोत्तम कार्यको नही करता है, आत्मानद का विलास नही लेता है। वास्तवमे जिसके भावोमे तीव्रमिथ्यात्व व अनन्तानुबधी कषायका उदय होता है उसकी दशा ऐसी ही भयानक होजाती है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोहमे कहते है—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो ।
गुणा समस्ता न भवन्ति सर्वथा।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो ।
रजोयुतालावुगत यथा पय ॥१३७॥

भावार्थ--जैसे निर्मल पानी धूलसहित तूम्वीमे प्राप्त होकर मैला होजाता है वैसे जिसका आत्मा दुखदाई मिथ्यादर्शनरूपी कर्मकी रजसे गाढ छाया गया है उमके भीतर दया, सयम, ध्यान, तप, व्रत आदि ये सर्व गुण विलकुल नही पाए जाते हैं।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द।

जीवन वीते है, मरण आही रहा है।
द्युति तन खिरती है, वृद्धपन वढ रहा है ॥
जा मोह पिशाच, वश पडा दीन नर है।
सो भूले हितको, आत्मसे वे खवर है ॥११७॥

उत्थानिका--आगे कहते हैं कि इन्द्रियोके विषयोमे जो अधा है वह अपना नाश निकट आनेपर भी धर्मसे प्रेम नही करता है-

जननमृत्युजरानलदीपितं
जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो
रतमना विषयाकुलितो जनः ॥११८॥

अन्वयार्थ—(सकलः) सर्व लोक (अपि) यद्यपि (विलोकते) देखते हैं कि (इदं जगत्) यह जगत (जननमृत्युजरानलदीपितं) जन्म मरण व बुढ़ापा रूप अग्निसे जलता रहा है (तदपि) तौभी (रतमना विषयाकुलितः जनः) विषयोंकी चाहसे घबड़ाया हुआ मनुष्य मनको उनमें आसक्त रखता (धर्म-मतिं) धर्ममें बुद्धिको (नो विदधाति) नहीं लगाता है।

भावार्थ—आचार्यने प्रगट किया है कि जो मानव इन्द्रियोंके विषयोंका गुलाम होजाता है वह अपने मनको उन्हींकी पूर्तिमें रंजायमान किया करता है। ऐसा होकर इस बातको भूल जाता है कि मुझे धर्म भी साधन करना जरूरी है। वह यह देखता भी है कि जगतमें कोई मानव जन्मते हैं, कोई बूढ़े होते हैं, कोई मरते हैं अर्थात् कोई भी थिर नहीं रह सकता है तथापि अपने सम्बन्धमें विचार नहीं करता है कि मुझे शीघ्र मर जाना होगा। आचार्य इस बुद्धिपर खेद प्रगट करते हुए प्रेरणा करते हैं कि बुद्धिमानको इन विषयोंके मोहमें अंध होकर अपना आत्महित न भुलाना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें कहते हैं—

धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतरसिकतया जीव भक्त्या त्रिधेहि ।
सम्यक्त्वं स्वान्तं पुनीहि व्यसनकुसुमित कामवृक्षं लुनीहि ॥
पापं बुद्धिं धुनीहि प्रशमयमदमाज्ञिमणिं पिण्डि प्रमादं ।
छिन्धि क्रोधं विभिन्धि प्रचुरमदगिरिं स्नेहमस्मिन्नेहमुनिवांछा ।४१८

गृहस्थमे रहना (कथम्। किसतरह (मलानाम्) पापके मैलोको (शुद्धिकारी) शुद्ध करनेवाला हो सकता है (इति) ऐसा समझकर (विमलमनस्कै) निर्मल मनवाले महात्माओंके द्वारा (मे) यह गृहवास (त्रिधापि) मन, वचन, काय तीनोमे ही (त्यज्यते) छोड दिया जाता है ।

भावार्थ—यहां आचार्यने यह स्पष्टपने दिखला दिया हे कि कोई भी मानव गृहस्थकी कीचड़मे फँसा हुआ कर्मोसे मुक्त नही हो सकता है । यहा तक कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी व तीन ज्ञानके धारी तीर्थंकरको भी गृहवास छोडकर निर्ग्रन्थ होना पडता हे । और बिलकुल निर्ममत्व होकर निजात्मानुभवका आनन्द लेना पडता है—शुद्ध वीतराग भावोमे रमण करना पड़ता है तब कही शुक्लध्यान जगता हे जो चारों घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान पैदा कर देता है । तब कोई सामान्य मनुष्य कितना भी ज्ञानी क्यो न हो गृहवाससे कर्ममलसे मुक्त नही हो सकता । क्योकि गृहस्थीको धर्म पुरुषार्थके सिवाय अर्थ और काम पुरुषार्थकी भी सिद्धि करनी पडती है। अर्थ पुरुषार्थके लिए उनको धन कमानेके लिए बहुत आरम्भ व व्यवसाय करना पडता है जिसमे हिंसाजनित बहुत अधर्म करना पडता है । काम पुरुषार्थमे इद्रियोको तृप्त करनेके लिए पाचों इद्रियोके भोगोको भी भोगता है । इसमे भी पापका ही सचय करता है कभी२ व्यवहार धर्मके ऐसा भी काम करता है जिससे पुण्य व पाप दोनो बधते हैं जैसे-धर्मस्थानको बनवाना, पूजा प्रतिष्ठाका प्रारम्भ कराना । जहातक पापोका बिलकुल संवर न हो वहाँ तक कर्मकी निर्जरा होना संभव नहीं है । गृहस्थको गृह सम्बन्धी आडम्बरमे सम्यग्दृष्टी भी क्यो न हो कुछ पापका संचय

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो आत्माके सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं उनको अपने परमात्मस्वभावका नित्य चिन्तवन करना उचित है—

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भवमरणजरातकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभाव क्षतसकलामल शश्वदात्मानपाय. ।
दक्षै सकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षै ।
नष्टावाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीय ।१२०।

अन्वयार्थ—(दक्षै) जो चतुर पुरुष (सकोचिताक्षै) अपनी इद्रियोको वशमे रखनेवाले हैं, (भवमृतिचकितै) जन्म मरणसे भयभीत हैं, (लोकयात्रानपेक्षै) ससारके भ्रमणसे उदास हैं उनको (नष्टावाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये) वाधा रहित, स्थिर व निर्मल आत्मीक सुखकी प्राप्ति के लिए (शश्वत्) सदा ही (सर्वज्ञ) सर्वको जाननेवाला (सर्वदर्शी, सर्वको देखनेवाला (भवमरणजरातकशोकव्यतीत) जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषोसे रहित (लब्धात्मीयस्वभाव) अपने स्वभावको प्राप्त किये हुए (क्षतसकलमल) सर्व कर्ममलोसे रहित (अनपाय.) अविनाशी (आत्मा) अपने आत्माको ही (चिन्तनीय) ध्यानमे ध्याना योग्य है ।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने इस तत्त्वभावनाका सार बता दिया है कि जो भव्यजीव अपने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके आत्मीक सच्चे सुखको भोगना चाहे जो शुद्ध स्थिर है, वाधा-रहित है, उनको उचित है कि व पहले अपनी पांचो इद्रियो को वश करे, क्योंकि इद्रियोकी चाहनाए ध्यानमे वाधक होती हैं फिर वह मनमे दया लावें कि मेरा आत्मा इस ससार में बारवार शरीर धारणकर जन्ममरणके कष्ट न उठावे।

इसीलिये उसके मनमें संसार यात्रासे उदासीनता हो व स्वाधीनताका परम प्रेम हो। ऐसा ज्ञानी जीव निश्चिन्त होकर परमात्माका या निश्चयनयसे अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप ध्यानमे लेकर वारम्वार चिन्तवन करे। निश्चयसे सिद्ध परमात्मामें और अपने आत्मामे कोई तरहका अन्तर नहीं है--दोनोंका स्वभाव समान है। यह आत्मा निश्चयसे पूर्ण ज्ञान दर्शन गुणका धारी है, इसमें कर्मोंके द्वारा होनेवाले राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मानादि भाव व शोक व जन्म, जरा, मरण आदि अवस्थाए नहीं हैं यह तो कर्म रहित शुद्ध वीतराग है, अपने अमल स्वभावमें सदा शोभायमान है। इस आत्माका आदि अन्त नहीं है इससे यह अविनाशी है। इस तरह ध्यानमें अपने स्वरूपको जमाकर वार वार ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। जव मनकी वृत्ति परभावोंसे हटकर अपने स्वरूपमें कुछ देरके लिए भी स्थिर होवेगी- स्वात्मानुभव जग जायगा उसी समय आत्मीक सुखका लाभ होगा। आत्मध्यान करनेके लिए क्या२ वाहरी साधनों की जरूरत है उसका कथन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधार पर आगे किया जायगा। वास्तवमें आत्मध्यानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, आत्मध्यानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंका सवर होता है, आत्मध्यानसे ही मोक्ष होता है। इसलिए हितेच्छुको निरन्तर आत्मध्यानका अभ्यास परम निश्चिन्त होकर करना योग्य हैं। पद्मनंदि मुनिने एकत्वाशीतिमे कहा है-

यदेव चैतन्यमहं तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद् गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परं॥७३

हेयं हि कर्मरागादि तत्कार्यं च विवेकिन।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्॥७४॥

तदेवैक पर तत्व तदेवैक पर पदम् ।
मयाराध्य तदेवैक तदेवैक पैर मह ॥४४॥

मुमुक्षूर्णां तदेवैक मुक्ते पथा न चापर ।
आनन्दोपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥४६॥

अक्षयस्याक्षयानदमहाफलभरश्रिय ।
तदेवैक पर वीज नि श्रेयसलमत्तरो ॥५०॥

भावार्थ--जो कोई चैतन्य स्वरूप है, जो कोई जानता है, जो कोई देखता है वही मैं हूँ। वह एक उत्कृष्ट पदार्थ है इसलिये मैं निश्चयसे उसी एकके साथ एक भावपनेको प्राप्त होगया हूँ।७६।

रागादि द्रव्य कर्म और उनके कार्य रागादि भाव विवेकियोंके लिये त्यागने योग्य हैं। शुद्ध उपयोग लक्षणको रखनेवाली एक उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति ही ग्रहण करने योग्य है ॥७४॥

वही एक उत्कृष्ट तत्व है वही एक उत्कृष्ट पद है। भव्य जीवोंके लिये वही एक आराधने योग्य है। वही एक परम ज्योतिमय है ॥४४॥

मोक्षकी इच्छा करनेवालोके लिए वही एक मुक्तिका मार्ग है दूसरा नही है, उसको छोडकर आनन्द और कहीं नहीं पाया जाता है ॥४६॥

अविनाशी मोक्षरूपी शोभायमान वृक्षकेलिए जो वृक्ष अविनाशी आनन्दरूपी महाकालके भारसे चमकता रहता है वही एक आत्मतत्त्व परम वीज है ॥५०॥

इन श्लोकोसे यही वताया है कि शुद्ध आत्माका अनुभव ही आनन्दका दातार है व स्वाधीनताका उपाय है। वही निरतर सेवने योग्य है।

॥ ॐ ॥

आत्मध्यानका उपाय।



हरएक बुद्धिमान मानव स्वाधीनताप्रिय होता है और सुख व शातिको चाहता है। आत्मा और कर्मपुद्गल इन दोनोके परस्पर सहवाससे आत्माकी शक्तियें पूर्ण विकाशरूप नही हैं तथा आत्माको अपने वर्तनमे बहुतसी बाधाएँ उठानी पडती हैं। ससारमे इष्टका वियोग व अनिष्टका सयोग होना कर्मोंकी ही पराधीनताका कारण है। क्रोधादि भावोका झलकना व पूर्ण-ज्ञानका न होना कर्मोके उदयका ही कार्य हैं। जन्म जन्ममे भ्रमण करना, जरा व मरणके कष्ट उठाना कर्मोका ही वेग है। इसलिए हरएक मानवका यह दृढ उद्देश्य होना चाहिए कि वह कर्मोंकी सगतिसे छूटकर स्वाधीन होजावे। कर्मोंकी सगति राग द्वेष मोहसे हुआ करती है। इसलिए हमे इन भावोको दूर करके वीतरागता पूर्ण आत्मज्ञानके पानेका उद्योग करना चाहिए और उसके बलसे आत्माका ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यानको हर एक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर मकता है। जैनसिद्धान्तोने मुख्य सात तत्वोका जानना व श्रद्धान करना जरूरी बताया है। वे तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव—निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, परमशांत, सुखमई, चैतन्य धातुरूप, असख्यात प्रदेशी है। इसका स्वभाव स्वाधीन आनन्दका भोग करते हुए

दीपकके समान स्वपर प्रकाशक है। ऐसा होकरके भी अनादिकालके प्रवाह रूप कर्मोंके बंधनके कारण यह शरीरमे रहता हुआ अज्ञान और कषायकी कालिमामे अशुद्ध होरहा है। यह जीव द्रव्य अवस्थाओंकी अपेक्षा तो अनित्य है परन्तु द्रव्य और गुणकी अपेक्षा नित्य है। यह स्वय कर्म बाँधता है व स्वय उस बधमे छूट भी सकता है।

अजीव तत्त्व—मे पाच द्रव्य गर्भित है। पुद्गल द्रव्य जो स्पर्श रस, गध, वर्णरूप है। जो परमाणु व स्कधके भेदोंसे अनेक प्रकारसे लोकभरमे भरा है। यह स्थूल शरीर भी पुद्गलसे बना है तथा सूक्ष्म शरीर जो कर्मोंका है वह भी सूक्ष्म कर्मवर्गणारूपी पुद्गलोंसे बना है। जो कुछ हमारे इद्रियोंका विषय है वह सब पुद्गल है। बहुतसे पुद्गल ऐसे सूक्ष्म है जिनको हम अपनी इद्रियोंसे नहीं देख सकते हैं।

धर्मास्तिकाय द्रव्य—यह दूसरा अजीव द्रव्य है। यह अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है। इसका काम जीव और पुद्गलोंकी हलनचलन क्रियाको होते हुए उदासीनताके साथ बिना प्रेरणाके मदद देना है। जैसे मछलीको चलते हुए जल सहकारी है। विना इसके किसी जीव या पुद्गलमे कोई हलन चलन रूप क्रिया नहीं होसकती है।

अधर्मास्तिकाय—यह तीसरा अजीव द्रव्य है। यह भी अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है इसका काम जीव और पुद्गलोको स्वय ठहरते हुए उनको उदासीनताके साथ विना प्रेरणाके ठहरनेमे मदद देना है। विना इसके जीव पुद्गल कभी ठहर नही सकते हैं। जैसे पथिकको वृक्षकी छाया ठहरनेमे

निमित्त है।

आकाशद्रव्य—चौथा अजीव द्रव्य अमूर्तीक आकाश है जो अनन्त है व एक अखण्ड है। इसका काम सर्व द्रव्योंको अवकाश या स्थान देना है। इसीके मध्यमे तीन लोकमय यह जगत है। जगतमे ही जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल ये पाच द्रव्य हर स्थानपर पाए जाते हैं। ये पाचो ही अजीव द्रव्य जीव द्रव्यसे बिलकुल भिन्न स्वतत्र द्रव्य हैं। जीव और पुद्गलका सम्बन्ध ही ससार है व इन दोनोंका भिन्न २ होना ही मोक्ष है।

कालद्रव्य—यह भी पाँचवाँ अमूर्तीक अजीव द्रव्य है। इसका काम सर्व द्रव्योंके पलटनेमे उदासीनतासे सहाय करना है। उस कालके अणु अलग-अलग आकाशके एक-एक प्रदेशपर बैठे हुए असख्यात प्रदेशी आकाशमे असख्यात है। लोकमे जितने द्रव्य एक अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्थारूप होते हैं उनको नएसे पुराना करनेमे ये कालाणु निमित्त है।

आस्रव और बन्ध तत्त्व—ये बतलाते हैं कि किस तरह यह जीव कर्मोंको खीचकर बाधा करता है। मन, वचन, कायके द्वारा यह ससारी जीव काम किया करता है। जब यह कोई क्रिया मन, वचन, कायसे करता है तब आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं उस समय चारो तरफ भरे हुए कार्माण, वर्गणारूप पुद्-गल खिचकर आजाते है और आत्माके कर्माण देहमे बधको प्राप्त होजाते हैं। उनमे अनेको आस्रव व बन्धनको बध कहते हैं। रागद्वेष मोहकी यदि प्रबलता होती है तो कर्मोंका बधन बहुत कालतकके लिए होता है, यदि उनकी मदता होती है तो बधन थोडे कालके लिए होता है। क्योकि ससारी आत्माओंमे

हलनचलन व क्रोधादि कषायका होना सदा ही पाया जाता है। इसलिये सर्व ही संसारी जीव अपनी हलन चलन क्रिया व कषायके अनुसार थोड़े या बहुत कर्मोको बांधते रहते हैं। जो आत्मा मुक्तिकी तरफ उद्योगी होजाता है वह कम कर्मोको बांधता है।

संवरतत्त्व—इस तत्वमें यह बताया गया है कि कर्मोके बंधनसे किस तरह बचा जावे। जिन२ कारणोसे कर्मोका बंध होता है उनउन कारणोको छोडना संवर है, तब कर्मोका बंध रुक जायगा। मुख्य कारण कर्मोसे बंध होनेके चार हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

सच्चे तत्वोको न समझकर मिथ्या तत्वोपर श्रद्धान रखना मिथ्यात्व है। पराधीनताको अच्छा समझना और स्वाधीनताको न पहचानना मिथ्यात्व है। अतृप्तिकारी इंद्रियोंके विषयोको अच्छा समझना और स्वाधीन आत्मीक सुखकी रुचि न करना मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तृष्णा में लवलीन रहना अविरति है। क्रोध, मान, माया, लोभके भाव करना कषाय है। मन, वचन, कायको हिलाना योग है। यदि कोई मिथ्यात्वको त्यागकर सम्यक्त भाव पैदा कर लेगा, स्वाधीनताका सच्चा श्रद्धालु हो जायगा फिर मिथ्यात्वके दोषसे जो कर्म बंधते थे उनको रोककर उनका वह संवर कर देगा।

जितना २ पांच हिंसादि पापोको छोडता जायगा उतना २ अविरतिके द्वारा जो कर्म बंधते हैं उनसे बचता जायगा। साधु अवस्थामे ये पाचो पाप बिलकुल छूटजाते हैं तब वहा इनके कार-

णसे होनेवाला बन्ध बिलकुल रुक जाता है। कषायोको जितना जितना घटाया जायगा उतना२ कषाय सम्बन्धी कर्मबंध रुक जायगा। जिस वीतरागी साधुके कषायोंका प्रकाश बिलकुल नही होता वहां कषाय सम्बन्धी सर्व कर्मका बन्ध रुक जाता है। मन, वचन, कायका हलन चलन कर्मोके आनेमे मुख्य कारण हैं। इनके पूर्णपने रुकनेसे कर्मोका आना बिलकुल रुक जाता है।

निर्जरा तत्त्व—इसमे यह बताया गया है कि कर्मोका अपने समयपर फल देकर झडने मात्रसे काम सिद्ध नही होता है। कर्मोका बिना फल दिये ही झड जाना आवश्यक है। इसका उपाय सच्चा आत्मा व सच्चा आत्मध्यान है।

मोक्षतत्व—जब यह जीव सर्व कर्मोंसे छूट जाता है तब परम पवित्र परमात्मा होजाताहै फिर सदाके लिए बंधरहित होजाता है। इस तत्वको जो पालते हैं उनको सिद्ध कहते हैं। इस तरह व्यवहारनयसे इन सात तत्वोका स्वरूप है। निश्चय नयसे इनमें जीव और कर्मपुद्गल इन दोहीका सम्बन्ध है। कर्मपुद्गल मेरा स्वभाव नही है ऐसा जानकर उसे छोड निज शुद्ध आत्मा ही मैं हूं ऐसा श्रद्धान करना निश्चयसे इन तत्वोका ज्ञान है। व्यवहारनय तो परद्रव्योंके आश्रय लेकर पदार्थका विचार करना है। निश्चयनय मात्र एक ही द्रव्यके आश्रय उसका विचार करता है। व्यवहारनयसे सात तत्वोका श्रद्धान व इनहीका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं। निश्चयनयसे शुद्ध आत्मा ही मैं हूं यह श्रद्धान तथा ऐसा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहारनयसे मुनिके या श्रावकके व्रतोको पालना सम्यग्-

चारित्रहै। निश्चयनयसे अपने ही शुद्ध स्वरूपमे एकतान होजाना सम्यग्चारित्र है। निश्चयनयसे आत्माही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्ररूप एक मोक्षका मार्ग है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैं—

दुविह पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूय झाण समब्भसह ॥ (द्रव्यसग्रह)

भावार्थ—मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनो ही प्रकारके मोक्षके मार्गको आत्मध्यानमे पालेते हैं। इसलिए तुम लोग प्रयत्नचित्त होकर ध्यानका भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यानमे एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रयमे एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्नत्रय भी पल ही रहा है क्योकि उसके भीतर सात तत्त्वोका सार ज्ञान व श्रद्धानमे भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पाचो पापोसे ध्यानके समय विरक्त है। और भी—

तवसुदवदवचेदा झाणरह धुरधरो हवे जम्हा।
तम्हातत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होहु ॥

भावार्थ—जो आत्मा तपका साधन करता है, शास्त्रका ज्ञाता है, वह व्रती है, वही ध्यानरूपी रथको चला सकता है। इसलिए तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनोमे सदा लीन रहना चाहिए जो आत्मध्यान करना चाहे उनको तपका प्रेमी होना चाहिए, ससार विषयोकी कामनाएँ मेटकर निज सुखके रमनका प्रेमी होना चाहिए। जो इद्रियोके विषयोके लोलुपी हैं उनका ध्यान बडी कठिनतासे जमता है। जैसा जैसा चित्त बाहरी भोग उपभोगोकी तरफसे हटेगा वैसा वैसा आत्मध्यान कर सकेगा।

ध्यानके अभ्यासीको शास्त्रोका ज्ञान व उनका निरन्तर मनन रहना चाहिए। शास्त्रोके द्वारा मनकी कुज्ञानसे बचकर सुज्ञान मे दृढता प्राप्त होती है। जितना साफ व अधिक तत्वोका ज्ञान होगा उतना ही अधिक निर्मल ध्यानका अभ्यास होगा इसी तरह ध्यानके अभ्यासीको व्रती भी होना चाहिये। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एक देश त्यागी श्रावक गृहस्थ हो। अविरतिमे तिष्ठनेवालोके ध्यानका अभ्यास बहुत ही अल्प होता है। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते हैं। इसलिये ध्यानके लिये अवश्य समयको निकाल लेते हैं।

वही आचार्य और भी कहते हैं—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४९॥

भावार्थ—यदि चित्तको नाना प्रकारके ध्यानकी सिद्धिके लिए अपने आधीन करना चाहते हो तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थोमे मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। ध्यान करनेवालेके मन मे यह सच्चा वैराग्य अवश्य होना चाहिए कि इस लोकमे कोई पदार्थ अपना हो नही सकता। किसीको अपना मानना वडी भारी भूल है। इस प्रकार निश्चय करके अपना मोह किसी चेतन व अचेतन पदार्थपर नही रखना चाहिये। तथा ज्ञानीको आत्मीक सुखको ही सच्चा सुख मानना चाहिए। इद्रिय द्वारा पैदा होने वाले क्षणिक सुखको सुख नही मानना चाहिए। अज्ञानी प्राणी इद्रियसुखके ही कारण उन चेतन व अचेतन पदार्थोसे राग करते हैं, जो विषयसुखमे मददगार हैं व जो हानि पहुचानेवाले चेतन व अचेतन पदार्थ हैं उनमे द्वेष करलेते हैं। ज्ञानी आत्मसुखका प्रेमी होकर न किसीसे राग करता है न किसीसे द्वेष करता है।

जिसका परिणाम वैराग्य युक्त होगा वही आत्मध्यान कर सकेगा, क्योंकि ध्यान चित्तकी एकाग्रताको कहते है, आत्मरुचि व आत्मप्रेम ही चित्तको आत्मामे जोडनेका सच्चा व अचूक उपाय है। जैसा श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतकमे कहते हैं—

यत्रैवाहितबुद्धि पुंस श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्त तत्रैव लीयते॥

भावार्थ – जिस पदार्थको बुद्धिमे निर्णय कर लिया जायगा उसी पदार्थमे श्रद्धा या रुचि जम जायगी तथा जिसमे रुचि हो जायगी उसीमे ही चित्त स्वय लय होने लगता है व जमने लगता है। वास्तवमे ध्यानके लिये यह बहुत आवश्यक है कि हमको आत्मद्रव्यका, आत्माके गुणोका तथा आत्माकी पर्यायोका विश्वास हो। हमको यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि जैसा पानी मिट्टीसे जुदा निर्मल है वैसा मेरा आत्मा आठ कर्ममल, शरीर व रागादि भाव मलोसे दूर, परम निर्मल सिद्ध भगवानके समान मात्र एक ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक, परमवीतराग आनन्दमई पदार्थ है। मैं वास्तवमे ऐसा ही हूँ। इसी निश्चय सहित ज्ञानमे चित्तको रोकना आत्मध्यान कहलाता है।

साधारण उपाय ध्यान करनेका यह है कि हम एकांत स्थानमे जहा कोलाहल न हो जाकर बैठजावे और थोडी देर निश्चिन्त होजावे सब कामोसे फुरसत कर लेवे और अपने आत्माको निर्मल जलके समान देखे। जैसे घडेमे जल भरा होता है वैसे अपने शरीरमे पुरुषाकार अपने आत्माको देखें, चुपचाप देखते रहें और अपने मनको उस आत्मरूपी जलमे डुबा दे।

(४) अ मि आ उ सा=५ अक्षरी मत्र ।

(५) अरहत=४ अक्षरी मत्र ।

(६) सिद्ध, मोह, ॐ ह्री=२ अक्षरी मत्र ।

(७) ॐ=१ अक्षरी मत्र ।

अ (अरहत)+अ (अशरीर या सिद्ध)+आ(आचार्य)+उ(उपाध्याय)+म्(मुनि या साधु) ओम् या ॐ ।



ध्यानके लिये विशेष विचार।

(१) कालका विचार--ध्यान करनेके लिये प्रात काल, मध्याह्नकाल व सायकाल तीन समय ठीक हैं । छ छ घडी हर समय ध्यानका समय है । जव सवेरा हो उससे तीन घडी पहलेसे तीन घडी वादतक, दो पहरको तीन घडी पहलेसे तीन घडी वादतक, सन्ध्याको तीन घडी पहलेसे तीन घडी वादतक । एक घडी २४ मिनटकी होती हैं इसलिये छ घडी २ घटे २४ मिनटकी हुई । यदि ध्यान छ घडी करना हो तो इस तरह वर्ते । यदि ४ घडी ही ध्यान करना हो तो दो घडी इधरसे दो घडी उधरतक लेले । यदि २ घडी ही करना हो तो १घडी पहलेसे १ घडी वादतक ले । यह उत्तम विधि है । मध्यम यह है कि यदि छ घडीसे कम करना हो तो यह ध्यानमे रक्खे कि सूर्योदय, मध्याह्न व सध्याके समय ध्यानमे वठा हो । जघन्य यह है कि दो घडी या कुछ अधिक करना हो तो हर तीन समयोमे छ घडीके समयके भीतर ध्यान कर डाले । इसके सिवाय रात्रिको भी वारह वजे या अन्य किसी भी समय ध्यान किया जासकता है ।

भावार्थ—धीरवीर समाधिकी सिद्धिके लिये काष्ठका तखता, शिला, बालुरेतका स्थान या भूमि इनमेंसे किसीमें भले प्रकार स्थिर आसन जमावे।

(४) आसनका विचार—

आसन शरीरको जमाकर रखता है इसलिए किसी न किसी आसनसे बैठकर या खडे होकर ध्यान करना चाहिये। कहा है—

पर्यंकमर्द्धपर्यंकवज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥
येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥११॥
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण सम्प्रति ॥१२॥

भावार्थ—पर्यंक आसन अर्द्धपर्यंक आसन वज्रासन वीरासन सुखासन कमलासन और कायोत्सर्ग ध्यानके योग्य आसन माने हैं। जिस किसी आसनसे ध्यानी अपने मनको स्थिर कर सके उसी सुन्दर आसनको लेलेना चाहिए। इस समय काल दोषसे शक्ति कम होनेसे कायोत्सर्ग और पर्यंक इन २ आसनोंको ठीक कहा है।

आसन जमानेसे मन स्थिर होजाता है। कहा है—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०॥
वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥३२॥

भावार्थ—इंद्रियोंको जीतनेवाला योगी आसनको जीते। जिनका आसन स्थिर होता है उनको ध्यान करते हुए खेद नहीं

होता है । आसनको जीतनेवाला योगी पवन धूप, पाला आदिसे तथा पशुओसे अनेक तरह पीडित किये जानेपर भी खेद नही मानता है ।

जो पवन पर्वतोको उडा दे ऐसे पवनके चलनेपर आसनसे बैठा हुवा कभी नही डिगता है । शरीरको स्थिर रखनेका बडा सुन्दर उपाय आसनका जीतना है ।

सीधे बैठना, अपने दोनो चरणोको एक दूसरेकी जाँघके ऊपर रखना, दोनो हाथ गोदमे रखना, बाए हाथके ऊपर दाहना रखना, आखें निश्चल रहे, उनकी सीध नाशिकाके अग्र भागपर हो । इसका मतलव यह नही है कि नाककी नोकको देखे परन्तु यदि कोई देखे तो मालूम पडे कि दृष्टि नाककी सीधपर है, दोनो होठ न बहुत खुले हो न मिले हो, मन बडा प्रसन्न हो. इस आसनको लौकिकमे पद्मासन कहते है । जैसे उत्तर हिन्दुस्तानमे दि० जैन मदिरोमे प्रतिमाका आसन होता है । जहा एक पग जाघके नीचे व दाहना पग जाघके ऊपर रहे, शेप सब बातें पद्मासनके समान हो उसको अर्द्ध पद्मासन कहते हैं । दक्षिणमे इस आसन मे मूर्तिया मिलती है । यहा इसहीको पल्यकासन कहते है । जैनबद्रीके दौर्बलि जिनदास शास्त्रीने पद्मासन, पल्यकासन व कायोत्सर्गके श्लोक इस प्रकार लिखाए थे—

समपादौ क्षितौ स्थित्वा चोर्ध्वजानुगतौ करौ ।
प्रसार्य्य ऋजुमूर्ति स्यात् दण्डासनमितीरित ॥

भावार्थ – जहां पैरोको बराबर जमीनपर जमाया जावे, आगेके (एक दूसरेसे चार अगुलकी दूरी रहे) अपने दोनो हाथ लटके हुए

जघा तक चले आवें व सीधी मूर्तिरूप खडा रहे उसको दडासन व कायोत्सर्ग आसन कहा गया है।

उत्तानवामचरण दक्षिणोर्णि विन्यसेत् ।
उत्तानयाम्यचरण वामोर्णि निवेसयेत् ॥
तन्मध्याधोर्ध्वगोत्तानवामवामेतरौ करौ ।
स्थित्वा निश्चलयोगेन नासाग्रमवलोकयेत् ॥
इद पद्मासन प्राहु मुख्य पूजादिकर्मसु ।

भावार्थ—बाएँ चरणको उठाकर दाहनी जाघपर रक्खे व दाहने चरणको उठाकर बाईं जाँघपर धरे, उनके मध्यमे नीचे बायाँ हाथ रखके ऊपर दाहना हाथ रक्खे तथा निश्चल बैठे और नासाग्र दृष्टि हो सो पद्मासन कहा गया है। पूजा आदि कार्योंमे यह मुख्य है।

वामपादस्य गुल्फेन याम्यपदगुल्फक न्यसेत्,
तस्योर्ध्वाध स्थितोत्तानयामोत्तरकरोपरे ।
वामोत्तर कर स्थित्वा नासाग्रमवलोकयेत्,
पल्यकासनमित्याहु सर्वपापनिवारण ॥

भावार्थ—बाए पैरकी गुल्फ या टोहनीके साथ मिलाकर दाहने पैरकी टोहनीको बाएपगकी जाघपर रक्खे फिर गोदमे दाएं हाथके ऊपर दाहना हाथ रक्खे। नासाग्र देखे सो पल्यकासन सर्व पाप दूर करनेवाला है।

मल्लिषेण कृत विद्यानुवाद मत्र शास्त्रमे लेख है कि २४ तीर्थंकर पल्यकासन तथा कायोत्सर्गासनसे मोक्ष गए। जैसे—

ऋषभस्य वासपूज्यस्य नेमे पल्यकबध्नता ।
कायोत्सर्गस्थिताना तु सिद्धि शेषजिनेशिना ॥

अर्थात् ऋषभदेव, वासपूज्य तथा नेमिनाथ तो पल्यकासनसे मोक्ष गए शेष २१ जिन कायोत्सर्गसे मोक्ष गए।

इसकालमें ध्यान करनेवालेको पद्मासन, पल्यंकासन तथा कायोत्सर्ग इन तीन आसनोंको काममें लेना चाहिये तथा किसी एक आसनका खूब अभ्यास करलेना चाहिये। आसन ऐसा जमावे कि देखनेवालेको निश्चल सा मालूम हो।

पंडित जयचन्दजी कहते हैं—

आसन दिढतें ध्यानमें, मन लागै इकतान।
तातें आसन योगकू, मुनि कर धारें ध्यान॥

ध्यान सामायिकके साथ करना उचित है।

सामायिककी विधि।

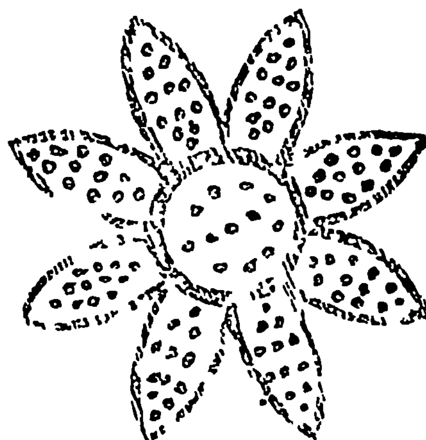
यह विधि सामान्य व सुगम लिखी जाती है जिससे हर-एक समझदार अभ्यासमें ला सकता है।

पहले तो मनको और कामोंसे हटाकर स्वस्थ करले, वचनके बोलनेको व अपने सिवा काम करनेकी इच्छाको रोकले व शरीरको अशुचि व वस्त्रोंसे साफ रक्खे। पवित्र वस्त्र जितने कम पहने उतना ठीक है। जिससे सरदी गर्मीकी बाधा न हो ऐसा होकर मन वचन काय शुद्धकर ठीक समयपर अर्थात् प्रातःकाल, मध्यान्ह, या सायंकाल एकान्त निराकुल स्थानमें जाकर किसी आसनको बिछाकर या भूमिमें ही पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके खड़ा हो क्योंकि अभ्यासीके लिए पूर्व या उत्तर दिशाकी तरफ होकर ध्यान करना शास्त्रमें कहा है। यद्यपि अन्य दिशामें भी ध्यानका सर्वथा निषेध नहीं है। जैसा ज्ञानार्णवके इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है—

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते॥

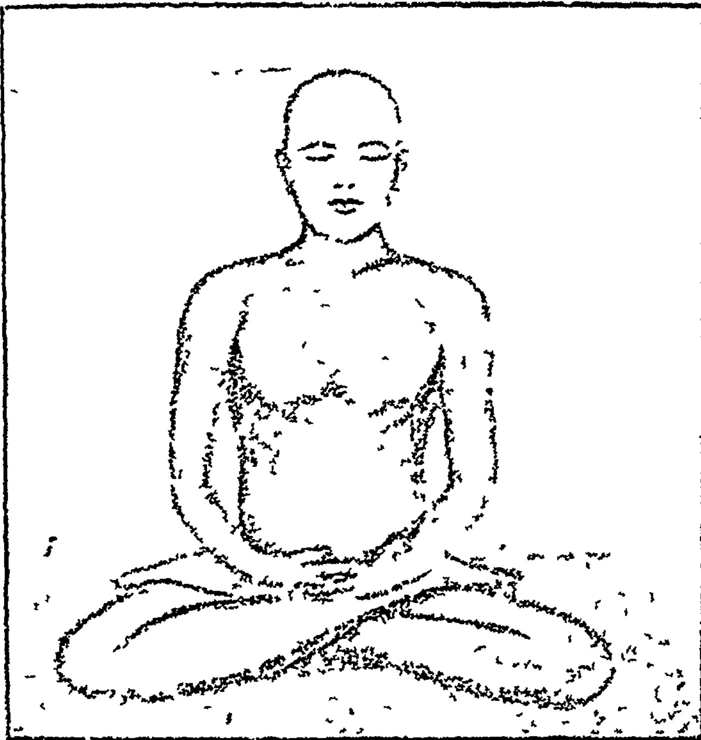
रखनेवाली है ।

कमलकी जापका चित्र ।



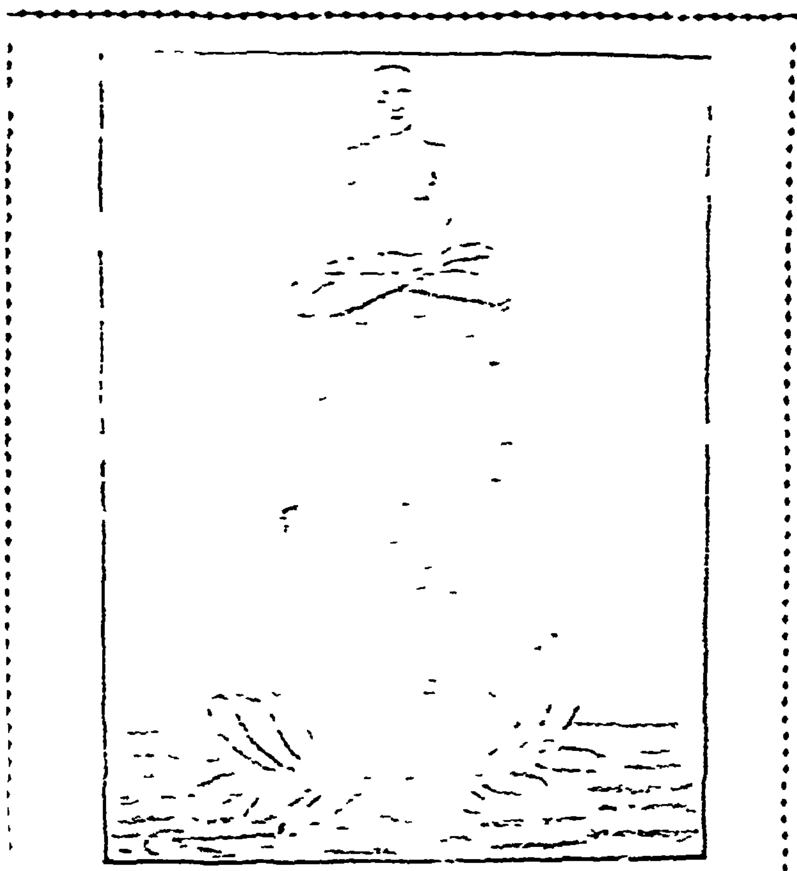
जापके पीछे ध्यानका अभ्याम करे, सुगम रीति यह है कि अपने शरीरको एक घडा माने और अपने आत्माको निर्मल गगाजल माने और उसमे मनको वारवार डुवानेका अभ्यास करे । जव मन हटे तव ॐ या सोहं या अर्हं या सिद्ध ऐसा कोई मन्त्र जपले या आत्माके शुद्ध गुणोका चिन्तवन करले, ऐसे वारवार मनको डुवानेका अभ्यास करे । दूसरी रीति अनेक हैं । श्री ज्ञानार्णवजीमे चार प्रकार ध्यान वताया है इनमेसे किसी एक रीतिको लेकर ध्यान करे । वे चार प्रकार ध्यान हैं—(१) पिडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान, (४) रूपातीन ध्यान ।

इसका वर्णन आगे देते हैं । जव ध्यानकर चुके तव फिर कायोत्सर्ग खडा होजावे या खडा हो तो वैसे ही नौ दफे णमोकार मत्र पढे और अतिम दडवत करके सामयिक विधिको पूर्ण करे ।



१—एकांत-सेवन विचार

एक ज्ञानी आत्मा विचारता है कि वस्तु का जो स्वभाव है वही मेरा धर्म है। इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमयी दर्शन ज्ञान का धारक अमूर्तिक है। लेकिन वह अनादि कर्म बन्धन के कारण से चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता हुआ अनन्त काल अनेक पर्यायें धारण करता फिरा है इसलिए इसको परपदार्थों से भिन्न अनन्त दर्शन ज्ञानमयी सच्चिदानन्दरूप सम्यग्दर्शन है, और जो न्यूनाधिकता रहित सूक्ष्म भेदों सहित जाना जाता है वह सम्यग्ज्ञान है, और जो स्वरूप में लीन हो जाना सो सम्यक्चारित्र है इसलिए निश्चय से मेरा धर्म आत्म स्वरूप है। इसको बिना पहिचाने मेरा निस्तारा नहीं होगा।



(१) पिंडस्थ ध्यानका स्वरूप।

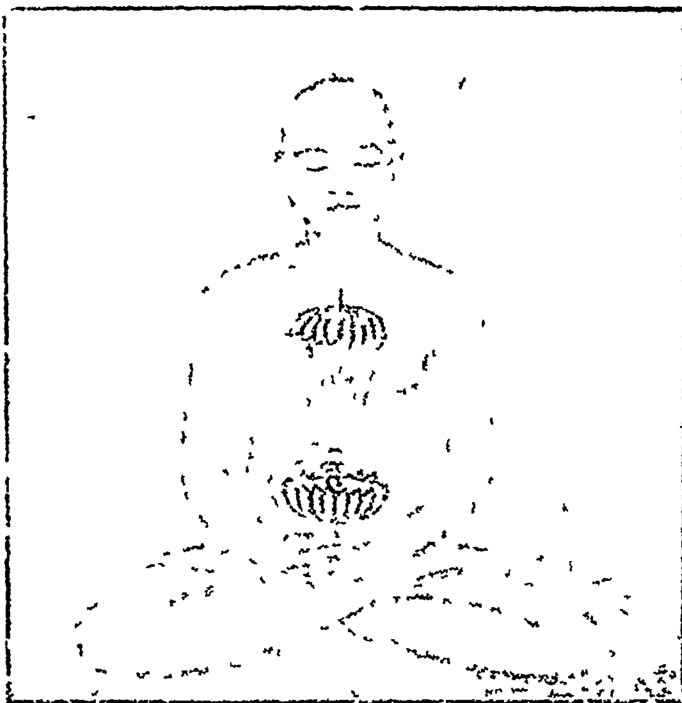
पिंड शरीरको कहते है इसमें स्थित जो आत्मा उसको पिंडस्थ कहते हैं, उस आत्माका ध्यान करना सो पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिए पांच धारणाएं बताई गई है— (१) पार्थिवी (२) आग्नेयी, (३) श्वसना या वायु (४) वारुणी या जल (५) तत्त्वरूपवती। इनको क्रम२ से अभ्यासमे लावें।

(१) पार्थिवी धारणा का स्वरूप।

इस मध्यलोकको क्षीर समुद्र समान निर्मल जलसे भरा हुआ चिन्तवन करे, उसके बीचमे जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौडा एक हजार पत्तोंको रखने वाला ताए हुए सुवर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमलके बीचमे कर्णिकाके समान सुवर्णके पीले रंगका सुमेरुपर्वत चिन्तवन करे, उसके ऊपर पाण्डुक वनमे पाण्डुक शिलापर स्फटिकका सफेद सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिए बैठा हूं कि मैं अपने कर्मोंको जला डालूं और आत्माको पवित्र करडालूं। इतना चितवन वार-वार करना पार्थिवी धारणा है।

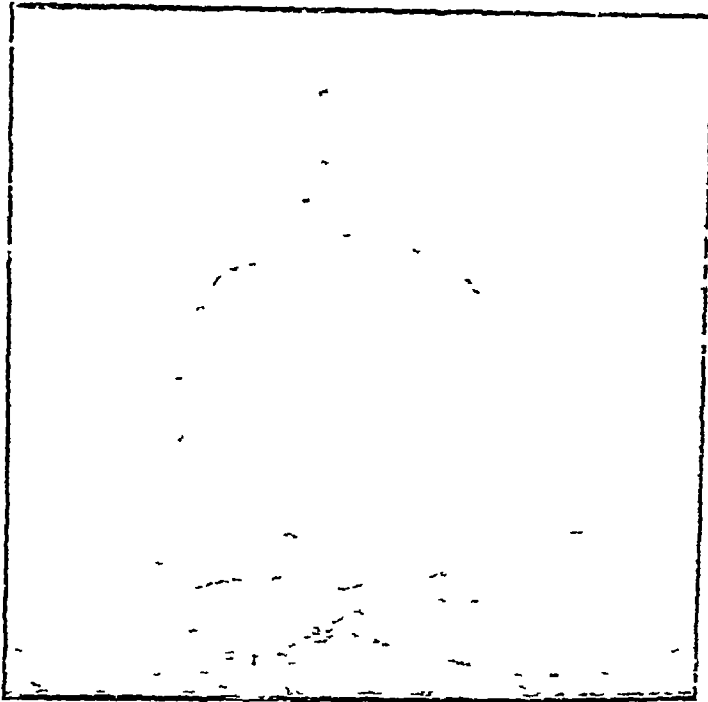
(२) आग्नेयी धारणा।

फिर वही सुमेरु पर्वतके ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपने नाभिके भीतरके स्थानमे ऊपर हृदयकी तरफको उठा हुआ व फैला हुआ सोलह पत्तोका कमल सफेद वर्णका विचार करे और उसके हरएक पत्तेपर पीतरंगके सोलह स्वर लिखे हुए सोचे-अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इस



७—अग्नि धारणा ।

जो नाभि-कमल है उसके बीच में अग्नि विराजमान है। उसकी रफ से ज्ञानमई अग्नि निकलकर कर्मरूपी कमल को जलाने लगी है इस समय शांत भाव से मन को इसी में जोड़ रहना चाहिए, और स्वाहा स्वाहा बोलते रहना चाहिए।



१०—शरीर रूपी राख की ढेरी ।

कर्मरूपी कमल को और शरीररूपी पुद्गल को ज्ञानमई अग्नि ने भस्म कर दिया है। आत्मा शरीर रूपी भस्म में छिपी है, ऐसा विचार करना चाहिए।

(३) श्वसना या वायुधारणा।

फिर वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि चारो तरफ बडे जोरसे निर्मल पवन वह रही है व मेरे चारों तरफ वायुने एक मंडल गोल बना लिया है उस मंडलमें आठ जगह घेरेमें 'स्वाय स्वाय' सफेद रंगका लिखा हुआ है। फिर ऐसा सोचे कि यह वायु उस कर्म व शरीरकी राखको उड़ा रही है व आत्माको साफ कर रही है ऐसा ध्यान करे।

(४) वारुणी या जल धारणा।

फिर वही ध्यानी विचार करे कि आकाशमें मेघोंके समूह आगए बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और खूब जोरसे पानी बरसने लगा। अपनेको बीचमें बैठा विचारे, अपने ऊपर अर्ध चन्द्राकार पानीका मण्डल विचारे तथा प प प प जलके बीजाक्षरसे लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगे हुए मलको साफ कर रहा है—आत्मा बिलकुल पवित्र होरहा है।

(५) तत्वरूपवती धारणा।

फिर वही ध्यानी चिंतवन करे कि अब मैं सिद्धसम सर्वज्ञ वीतराग परम निर्मल कर्म व शरीररहित मात्र चैतन्यात्मा हूँ, पुरुषाकार चैतन्य धातुकी बनी शुद्ध मूर्तिके समान हूँ, पूर्ण चन्द्रमाके समान ज्योतिरूप देदीप्यमान हूँ।

यह पिंडस्थ ध्यानका स्वरूप है। इनमेंसे हरएक धारणाका क्रमसे अभ्यास करे। जब पाँचोंका अभ्यास होजावे तब हर दफे जब ध्यान करे तब इन पाचों धारणाओंके द्वारा पिंडस्थ ध्यान को करे। अन्तमें देर तक शुद्ध आत्माका अनुभव करे। यह ध्यान वास्तवमें कर्मोको जलाता है और आत्मीक आनन्दका

देनेवाला है। पडित जयचन्दजीने कहा है—

चौपाई-या पिडस्थ ध्यानके माहि, देह विषें चित आतम ताहि।
चितवै पच्च धारणा धारि, निज आधीन चित्तको पारि ॥

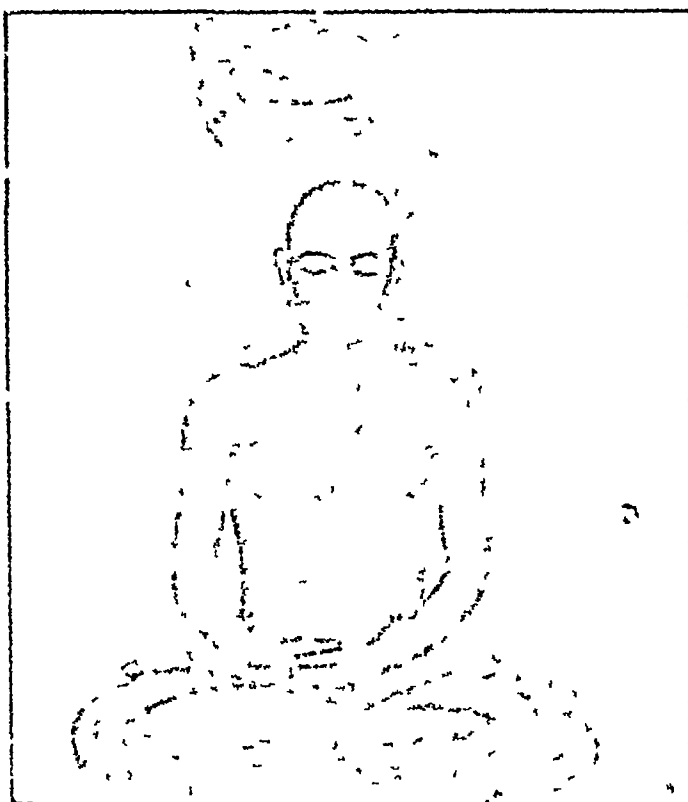
(२) पदस्थ ध्यानका स्वरूप ।

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थ मत ध्यान विचित्रनयपारगै ॥१॥

भावार्थ—पवित्र पदोके सहारेसे जो ध्यान योगियोके द्वारा किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है ऐसा ज्ञानियोने कहा है। पदोके सहारे शुद्ध आत्मा अरहत या सिद्ध आदि या उनके गुणो का ध्यान करना सो पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थानपर पदोको विराजमान करके उनको देखते हुए चित्तको जमाना तथा उनका स्वरूप बीच बीचमे विचारते रहना। श्रद्धान यह रखना कि हम शुद्ध होनेके लिए शुद्धात्माओका ध्यान कररहे है। इसके लिए अनेक पदोका ध्यान श्री ज्ञानार्णवजीमे कहा है। यहाँ कुछ मन्त्र बताए जाते हैं—

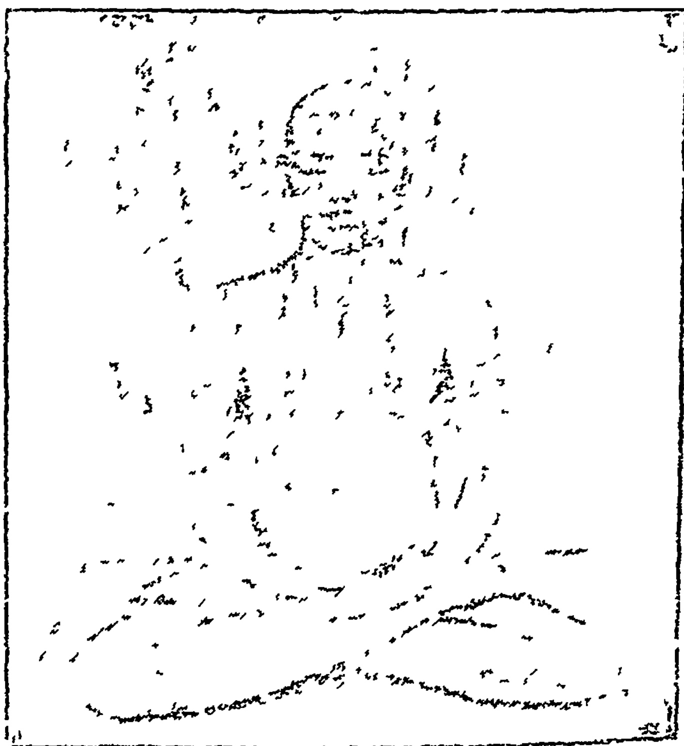
(१) वर्णमातृका मत्र ।

ध्यान करनेवाला अपनी नाभिमे जमे हुए एक सोलह पत्तो के कमलको सफेद रगका चितवन करे इनपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ इन १६ स्वरोको पीले रगका लिखा हुआ व क्रमसे पत्तोपर घूमता हुआ विचारे, फिर हृदय-स्थानमे चौवीस पत्तोके कमलको सफेद रगका विचारे। उसकी मध्यकी कर्णिकाको लेकर पच्चीस स्थानोपर पच्चीस व्यजन पीले रगके लिखे—



११—वायु धारणा ।

ध्यानमग्न आत्मा विचारती है कि वायु वेग से चल रही है। शरीर रूपी भस्म को उड़ा रही है, और शरीर-प्रमाण आत्मा शान्त बैठा है।



१७ - जल धारणा ।

क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर इसमें स्थित आठ पत्रोंके सफेद कमल पर पीले रगोंके आठ अक्षरोंको लिखे व भ्रमण करता हुआ विचारे। वे है—य र ल व श ष स ह।

इस तरह तीनों कमलोंको देखता रहे व मनमें श्रद्धा रखे कि ये सब श्रुतज्ञानके मूल अक्षर है, मै जिनवाणीका ही ध्यान करता हूँ।

(२) मन्त्रराज—र्ह्रं

यह साक्षात् परमात्माको व चौबीस तीर्थंकरोको याद दिलाने वाला है। पहले इसके दोनो भौहोंके बीच चमकता हुआ जमा-कर देखे फिर वह मुखमे प्रवेश करके अमृतको झरता हुआ, फिर नेत्रोंकी पलकोंको छूता हुआ, मस्तकके केशोंपर चमकता हुआ फिर चद्रमा व सूर्यके विमानोंको छूता हुआ तथा ऊपर स्वर्गादिको लाघ कर जाता है और मोक्ष स्थानमें पहुँच जाता है। इस तरह भ्रमण करता हुआ ध्यावे।

(३) प्रणव मंत्र ॐ या ओम्।

हृदयमें सफेद रगका कमल विचार करे, उसके मध्यमें ॐको चद्रमाके समान चमकता हुआ ध्यावे। इस कमलके आठ पत्रों पर तीनपर १६ स्वर या पाँचपर २५ व्यंजन लिखकर चमकता हुआ ध्यावे। इस तरह ३३ अक्षरसे वेष्टित ॐका ध्यान करे। इस चमकते हुए ॐको नीचेके स्थानोंपर भी विराजमान करके ध्यान करे। श्रद्धान रक्खे कि यह मत्र अरहंतसिद्ध आदि पाँच परमेष्ठीका वाचक मत्र है, ध्यान करता हुआ मध्यमें इनके गुणो का भी चितवन कर सकता है।

दश स्थान—(१) मस्तक, (२) ललाट या माथा, (३) कान, (४) नेत्र (५) नाककी नोक, (६) दोनों भौहोंका मध्य भाग, (७) मुख, (८) तालु, (९) हृदय, (१०) नाभि ।

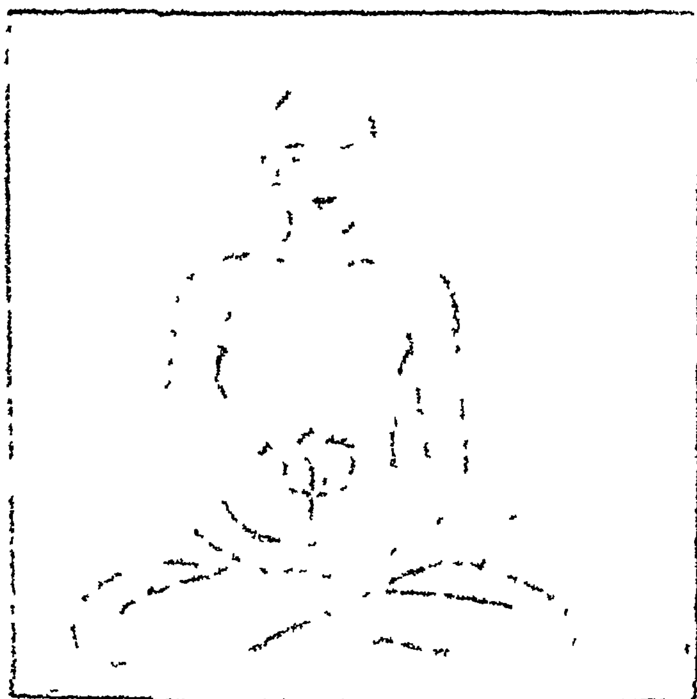
(४) णमोकार मन्त्र ।

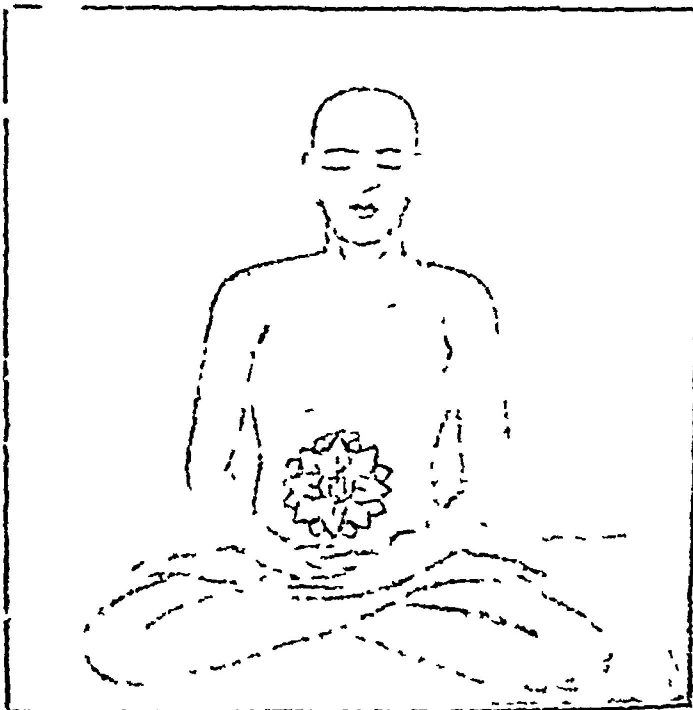
हृदयस्थानमे चद्रमाके समान चमकता हुआ आठ पत्रोका कमल विचारे । उसके मध्यके कर्णिकाके स्थानमे "णमो अरह-ताण" को चमकता हुआ ध्यावे। फिर चार दिशाओके चार पत्रो पर पूर्वपर "णमो सिद्धाण" पश्चिमपर "णमो आइरियाण" उत्तरकी तरफ "णमो उवज्झायाण" और दक्षिण की तरफ "णमो लोए सव्वसाहूण" विराजमान करके क्रमसे ध्यावे। फिर चार कोनोके पत्तोपर क्रमसे "सम्यग्दर्शनाय नम" "सम्यग्ज्ञा-नाय नम" "सम्यक्चारित्राय नम" "सम्यग्तपसे नम" इन चार पदोको ध्यावे। नौ पत्तोको क्रमवार वदलता हुआ ध्यान करता रहे। बीच २ मे स्वरूपचिन्तवन करता रहे।

(५) पच परमेष्ठी ध्यान ।

अ, सि, आ, उ, सा, ये पाँच अक्षर पाच परमेष्ठियोके प्रथम अक्षर हैं, इनको चद्रमाके समान चमकता हुआ पाच स्थानोपर पाँच कमलोके मध्यमे स्थित ध्यावे ।

(१) नाभिकमलके मध्यमे अ ।
(२) मस्तकके कमलमे सि ।
(३) कण्ठके कमलपर आ ।
(४) हृदयके कमलपर उ ।
(५) मुखके कमलपर सा ।





४—बिन्दु धारणा।

मेरे नाभि कमल में जो खिले हुए पत्ते हैं उनमें हर एक पत्ते पर पीले रंग के बिन्दु हैं, जो हर एक पत्ते पर बारह-२ हैं। बीच के भाग में भी १२ हैं और बीच में ह्रीं अक्षर है। यही मूल में है। मैं बिन्दु के ऊपर दृष्टि जमा कर जप करता हूँ। मेरा मन्त्र है स्वाहा ॐ।

इस पदस्थ ध्यानके अभ्यासमें भी चित्त मन्त्र विचारोंसे रत होकर धर्मध्यानमें तल्लीन होता है । इसका अभ्यास करना परम हितकारी है । और भी बहुतसे मन्त्र हैं जिनका वर्णन श्री ज्ञानार्णवसे मालूम हो सकता है । पंडित बनारसीजी कहते हैं –

अक्षर पदको अर्थ रूप जो ध्यावै ।
ॐ ध्यावे इस मन्त्र रूप [illegible] ॥
ध्यान पदस्थ सु नाम कह्यो मुनिराजने ।
है यामें ही लीन तरै निज काजने ॥

(३) रूपस्थ ध्यान ।

अरहन्त भगवानका स्वरूप मनमें लेकर उसका ध्यान करना सो रूपस्थ ध्यान है । किसी एक तीर्थंकरका – ऋषभ, पार्श्व, नेमि या महावीरको विचारे । उनको नीचे प्रमाण ध्यावे ।

(१) समवशरणकी श्री मण्डपमें १२ सभाएँ हैं, उनमें चार प्रकारके देव, देविया, मुनि आर्यिका मानव व पशु सब बैठे हैं, तीन कटनी पर गंधकुटी है, उसमें अन्तरीक्ष चार अंगुल ऊँचे श्री अरहन्त प्रभु पद्मासन विराजमान हैं ।

(२) जिनका परमौदारिक शरीर कोटि सूर्यकी ज्योतिको मन्द करनेवाला है, जिसमें मांस आदि सात धातुएँ नहीं हैं । परम शुद्ध स्फटिकवत् चमक रहा है ।

(३) प्रभु परम शांत, स्वरूप मग्न विराजमान हैं, जिनके सर्व शरीरसे वीतरागता झलक रही है ।

(४) श्री अरहन्त भगवानके क्षुधा, तृषा रोग, शोक, चिंता, रागद्वेष, जन्म, मरण आदि अठारह दोष नहीं हैं ।

(५) जिनके ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे अनंतज्ञान प्रगट हो गया है, जिससे सर्व लोक अलोकको एक समयमे जान रहे हैं। दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे अनंतदर्शन प्रगट होगया है जिससे लोकालोकको एक समयमे देख रहे हैं। मोहनीय कर्मके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन व यथाख्यात चारित्र या वीतरागत्व प्रगट होरहा है। अन्तराय कर्मके क्षयसे अनंतवीर्य, अनंतदान, अनंत-लाभ, अनंतभोग, अनंत उपभोग प्रगट होरहे हैं अर्थात् नव केवल लब्धियोसे विभूषित हैं। अनंतलाभ शक्तिके प्रगट होनेसे प्रभुके परमौदारिक शरीरको पुष्ट करनेवाली आहारक वर्गणाएँ स्वय शरीरमे मिलती रहती हैं जिससे साधारण मानवोकी तरह उनको ग्रास लेकर भोजन करनेकी जरूरत नहीं पडती है।

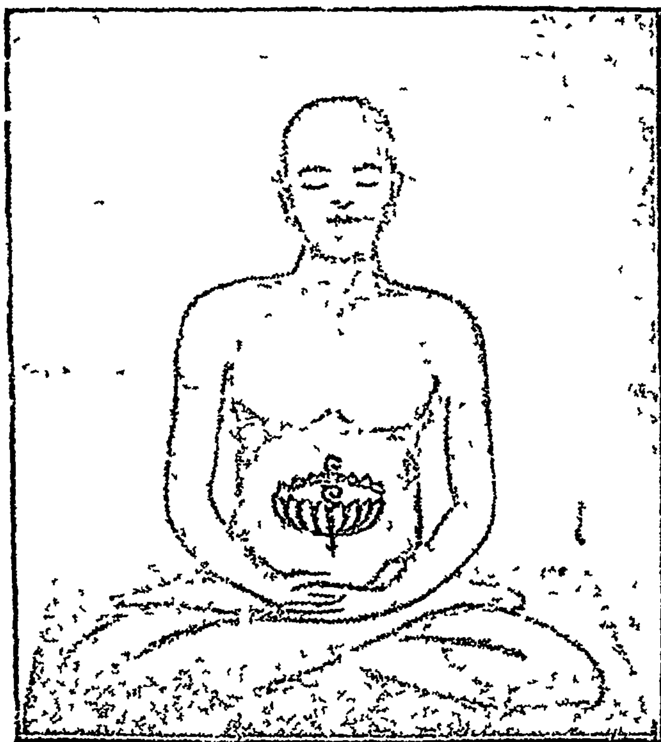
(६) जिस प्रभुके आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं-(१) अति मनोहर रत्नमय सिंहासनपर अन्तरीक्षविराजमान हैं,(२)करोडो चद्रमाकी ज्योतिको मद करनेवाला उनके शरीरकी प्रभाका मण्डल उनके चारो तरफ प्रकाशमान होरहा है,(३) तीन चद्रमा के समान तीन छत्र ऊपर शोभित होते हुए प्रभु तीन लोकके स्वामी हैं, ऐसा झलका रहे हैं। (४) हसके समान अति श्वेत चमरोको दोनो तरफ देवगण ढार रहे हैं, (५) देवोके द्वारा कल्पवृक्षोंके मनोहर पुष्पोकी वर्षा होरही है,(६) परम रमणीक अशोक वृक्ष शोभायमान है उसके नीचे प्रभुका सिंहासन है, (७) दुदुभि बाजोकी परम मिष्ट व गभीर ध्वनि होरही है, (८) भगवानकी दिव्यध्वनि मेघ गर्जनाके समान होरही है जिसको सर्व ही देव, मनुष्य, पशु अपनी २ भाषामे समझ रहे हैं।

(७६) सयोगिजिन, (७७) परमनिर्जरारूढ, (७८) परमसवरपति, (७९) आस्रवनिवारक, (८०) शुद्धजीव, (८१) गणधरनायक, (८२) मुनिगणश्रेष्ठ, (८३) तत्ववेत्ता, (८४) आतमरमी, (८५) मुक्तिनारिभर्ता, (८६) परमवैरागी, (८७) परमानन्दी, (८८) परमतपस्वी, (८९) परमक्षमावान, (९०) परमसत्यधर्मारूढ, (९१) परम-शुचि, (९२) परमत्यागी, (९३) अद्भुतब्रह्मचारी, (९४) शुद्धोपयोगी, (९५) निरालम्ब, (९६) परमस्वतन्त्र, (९७) निर्वैर, (९८) निर्विकार, (९९) आत्मदर्शी, (१००) महाऋषि इत्यादि ।

इसतरह विचार करके उनके परमवीतराग स्वरूपमे ही अपने मनको जोडदेवे । वार वार देखकर उनमे प्रेमालु होजावे । ऐसा विचारते विचारते वह द्वैतभावसे अद्वैतमे आजावे अर्थात् अपने आत्माको ही सर्वज्ञ व अरहत मानने लगजावे जैसा कहा है—

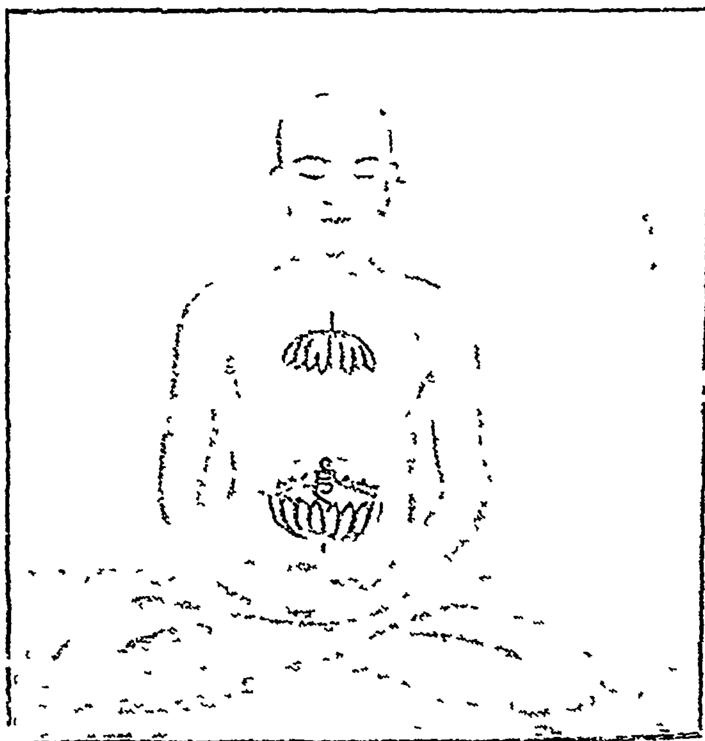
एष देव स सर्वज्ञ सोह तद्रूपता गत ।
तस्मात्स एव नान्योह विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो देव है वही मैं हूॅ, जो सर्वज्ञ है वही मैं हूॅ, जो आत्मस्वरूपमे लगा है वही मैं हूॅ, सर्वज्ञ देखनेवाला जो कोई है वह मैं ही हूॅ, मैं और कोई नही हूॅ इसतरह मैं ही साक्षात् अरहन्त स्वरूप वीतराग परमात्मा हूॅ ऐसी भावना करके उसीमे स्थिर होजावे । यह अरहतके स्वरूपके द्वारा निज आत्माका ध्यान है जिसको रूपस्थ ध्यान कहते हैं । पडित जयचन्दजी कहते है—



५—हूँ ।

जो नाभि-कमल मे विराजमान है, वो प्रकाशमान चमक रहा है। मैं उसी मे अपने मन को रोकता हू । और विचारता हू कि शरीर भर मे प्रकाश हो रहा है।



६—कर्मरूपी कमल।

मेरी आत्मा के संग आठ कर्म अनन्त काल से लगे हैं। ये ही मेरे ज्ञान को ढांकते हैं। मैं उनको कमल के रूप में एकत्र कर हृदय-स्थान में स्थापन कर भावना रूपी ध्यान की अग्नि में उन्हें जलाना चाहता हूं।

सोरठा—सर्व विभव युत जान, जे ध्यावें अरहतकू ।
मन वश करि सत मान, ते पावे तिस भावकू ॥

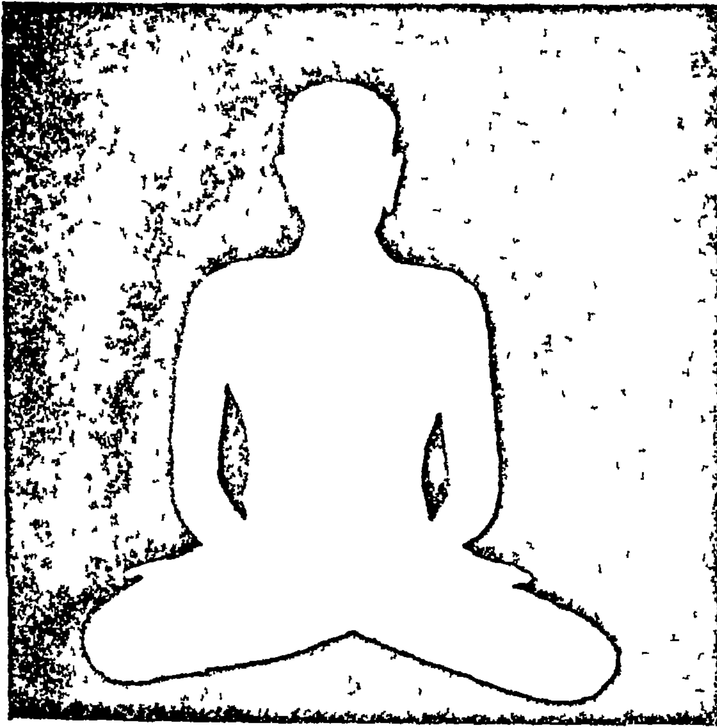
(४) रूपातीत ध्यान ।

इस ध्यानमे सिद्धोंके गुणोको विचारता हुआ अपने आपको ही सिद्ध माने, पहले सिद्धके स्वरूपको विचारेकि वह अमूर्तीक, चैतन्य, पुरुषाकार, परम कृतकृत्य, परमशात, निष्कल, परम शुद्ध, आठ कर्मरहित, परम वीतराग, चिदानन्दरूप, सम्यक्तादि आठ गुण सहित, परम निर्लेप, परम सतोषी, स्वरूपमग्न, स्फटिकमणिमयी निर्मल निरजन, निर्विकार व लोकाग्र विराजमान हैं। फिर विचारते२ अपने आत्माको ही सिद्धरूप मानकर ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ, विश्वलोकी हूँ, निरजन हूँ, स्वभावस्थिर हूँ, परमानन्दभोगी हूँ, कर्मरहित हूँ, परमवीतरागी हूँ, परम शिव हूँ, तथा परमब्रह्म हूँ। इस तरह अपने स्वरूपमे गुप्त होजावे।

जहा एकदम सिद्ध परमात्माका ध्यान करते २ द्वैतसे अद्वैत मे रम जावे, आपको ही सिद्ध सम शुद्ध भावे व उसीमे तन्मय हो जावे सो रूपातीत ध्यान है। जैसा पडित जयचदजीने कहा है—

दोहा—सिद्ध निरजन कर्म विन, मूरति रहित अनन्त ।
जो ध्यावै परमात्मा, सो पावै शिव सन्त ॥

इस तरह जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उसको निश्चल आसनसे होकरके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत इनमेसे चाहे जिस ध्यानको ध्यानेका अभ्यास करे। परन्तु एक ध्यान



१३—शुद्ध भावना

ज्ञानी आत्मा विचारता है। कि आत्मा के जो अनादि काल से आठ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि लगे हैं, और उन्हीं के कारण अनेक शरीर धारण कर भटक रहा था, वे सब जल कर भस्म हो गए है। और शुद्ध जल से धोकर आत्मा साफ हो गया है। अब मै शुद्ध निर्विकार आत्मा स्फटिक के समान हूं। मै उसी मे मग्न हूं।

तथापि सहकारी कारण किसीके होसकता है ऐसा जानकर यहा कुछ वर्णन ज्ञानार्णवजीके अनुसार किया जाता है।

तीन प्रकार के प्राणायाम है। (१) पूरक, (२) कुंभक, (३) रेचक।

(१) तालुके छेदसे या बारह अंगुल पर्यंतमे पवनको खीचकर अपने शरीरमे भरना सो पूरक है।

(२) उन खीचे हुए पवनको नाभिके स्थानपर रोके, नाभि से अन्य जगह न चलने दे। जैसे घडेको भरते है वैसे भरे सो कुम्भक है।

(३) उसी पवनको अपने कोठेसे धीरे २ बाहर निकाले सो रेचक है।

अभ्यास करनेवालेको पवनको भीतर लेकर थामनेका फिर धीरे २ बाहर तालुके द्वारा ही निकालनेका अभ्यास करना चाहिए जो अधिक देर तक थाम सकेगा वह मनको अधिक रोक सकेगा। नाकसे काम न लेकर तालुसे ही खीचना व तालुसे ही बाहर निकालना चाहिये। इसका अभ्यास खुली हुई स्वच्छ हवामे करना उचित है, तब शरीरको बहुत लाभ होता है। जैसे नाभिके कमलमे पवनको रोका जावे वैसा हृदयकमलके वहाँ भी रोका जासकता है।

प्राणायाममे चार मंडल पहचानने चाहिये—(१) पृथ्वीमंडल, (२) जलमंडल, (३) पवन मंडल, (४) अग्निमंडल।

(१) पीले रंगका चौकोर पृथ्वीमंडल है। जब नाकके छेद को पवनसे भरके आठ अंगुल बाहर तक पवन मंद मंद निकलता रहे तब पृथ्वीमंडलको पहचानना चाहिये। यह पवन कुछ ऊष्ण होती है।

(२) आधे चन्द्रमाके समान सफेद वर्ण जलमडल है। इस मडलमे पवन शीघ्र नीचेकी तरफ ठडकको लिये ही १२ अगुल बाहर तक वहती है।

(३) नीले रंगका गोल पवनमण्डल है। इसमे पवन सब तरफ बहती हुई ६ अगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण व शीत दोनो तरहकी होती है।

(४) अग्निके फुलिंगेके रग समान तीनकौनके आकार अग्नि मडलहै। इसमे पवन ऊपरको जाता हुआ चार अगुलतक वाहर आवे। यह उष्ण होती है।

नाकके स्वर दो हैं, वाई तरफके स्वासको चद्र व दाहनी तरफके स्वांसको सूर्य कहते हैं। एक मासके शुक्लपक्षकी पडवा (प्रतिपदा), दूज व तीज इन तीन दिन प्रात काल वामस्वर या चद्रस्वर चलना शुभ है फिर तीन दिन प्रात काल दाहिना फिर तीन दिन प्रात काल वाया इसतरह १५ दिन तक वदलता रहता है।

कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, दूज या तीजको प्रात काल दाहिना या सूर्य स्वर चलना शुभ है। फिर तीन तीन दिन प्रात काल स्वर वदलता रहे। यदि इससे विरुद्ध स्वर चले तो अशुभ जानने चाहिए। तौ भी एक स्वर नाककी वाई तरफका या दाहिनी तरफका वरावर २॥ घडी या एक घटे तक चलता रहता है फिर वह दूसरे दाहिनी या वाई तरफका होजाता है। किसी आचार्यने २४ घटेमे १६ वार पवनका पलटना लिखा है।

ऊपर कहे हुए पृथ्वी आदि चारमडलोंके पवनको पहचानने के लिए दूसरी रीति यह है कि अपने कानोको दोनो हाथके

अगूठोंसे बन्द करे, तब ही आखोंको अ गूठेके पासको अ गुलियो ने और नाकको मध्यमा अ गुलियोसे व मुखको शेष दो अ गुलि यांसे बन्द कर मनके द्वारा देखे तो बिन्दु दिखलाई पड़ेंगे, वे यदि पीले दीखें तो पृथ्वीमण्डल समझना, यदि सफेद दीखें तो जल मण्डल समझना, यदि लाल दीखें तो अग्निमण्डल और जो काले दीखें तो पवनमण्डल समझना चाहिये। इन चार मण्डलोमेंसे जब पृथ्वीमण्डल व जलमण्डल हो तब शुभकार्योंको अर्थात् ध्यान स्वाध्यायस्वरमें निकलते हो तो कार्यको सिद्धि बतानेवाले होते हैं। अग्नि व पवनमडल दाहिनी तरफसे वहें तो अशुभ सूचक है अग्नि व वायुमण्डल यदि बाई तरफमें वहें अथवा पृथ्वी व जल मडल यदि दाहने तरफसे वहें तो मध्यम फलके सूचक हैं।

बाएँ स्वरको हितकर व दाहने स्वरको अहितकर बताया है। जैसे—

अमृतमिव सर्वगात्र प्रीणयति शरीरिणां ध्रुव वामा।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥४४॥

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥४३॥

भावार्थ—प्राणियोंके बायां स्वर चलता हुआ अमृतके समान सर्व शरीरको तृप्त करता है तथा दक्षिण स्वर चलता हुआ शरीरको क्षीण करनेवाला है, प्राणियोंको बायां स्वर हितकारी है अमृतके समान है जब कि दाहिना स्वर अनिष्टका सूचक है। यदि किसीका स्वर बदलना हो तो जो स्वर चलता हो उधरके अ गको व स्वरको दाबे तो दूसरी तरफका स्वरचलने लगेगा।

स्वरोंके द्वारा ह्रं मनके ध्यानकी विधि नीचे प्रकार है इससे स्वर शुद्ध होता है। पहले नाभिके कमलके मध्यमें ह्रंको चंद्रमा के समान चमकता हुआ विचारे। फिर उसीको विचारे कि दाहने स्वरसे बाहर निकला और चमकता हुआ आकाशमें ऊपरको चला गया फिर लौटा और बाएँ स्वरसे भीतर प्रवेश करके नाभिकमलमें ठहर गया। इस तरह बारबार अभ्यास करके ह्रंको घुमाकर नाभिकमलमें ठहराना चाहिए।

विशेष कथन श्री ज्ञानार्णवमें ग्रन्थ देखकर जानना चाहिये। पूरक, कुम्भक, रेचकका अभ्यास खुली हवामें करनेसे शरीरकी शुद्धि व मनको रोकनेका साधन मिलता है। इतना ही उपयोग समझकर किसी जानकार विद्वानकी मददसे प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये।

इस तरह ध्यानका कुछ स्वरूप मोक्षार्थी व आत्मानन्दके ध्यानसे जीवोंके हितार्थ लिखा गया है। इसे पढकर भव्यजीव अवश्य निरंतर ध्यानका अभ्यास करो। अभ्याससे अवश्य ध्यान की सिद्धि होजाती है। यह तत्वभावना ग्रन्थ परम हितकारी है जो मनन करेंगे परम लाभ पावेंगे। इति।

मिती आसौज वदी ५ गुरुवार वीर स० २४५४ विक्रम स० १९८५ ता० ४ अक्टूबर १९२८। ब्र० सीतल।



॥ ॐ ॥

श्री अमितगतिसूरिविरचित—

सामायिक पाठ ।

(हिन्दी छंदानुवाद सहित)

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

हे जिनेन्द्र ! सब जीवनसे हो मैत्री भाव हमारे ।
दुःख दर्द पीडित प्राणिन पर करु दया हर बारे ॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे ।
नही प्रेम नहिं द्वेष वहां विपरीत भाव जो धारे ॥१॥

शरीरत कर्त्तुमनन्तशक्ति
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र कोपादिव खड्गयष्टि,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति ॥२॥

हे जिनेन्द्र ! अब भिन्न करनको इस शरीरसे आतम ।
जो अनन्त शक्तीधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम ॥
शक्ति प्रगट हो मेरेमें अब तव प्रसाद परमातम ।
जैसे खड्ग म्यानसे काढत अलग होत तिमि आतम ॥२॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे
योगे वियोगे भवने वने वा ।

निराकृताशेषममत्वबुद्धे
सम मनो मेस्तु सदापि नाथ ॥३॥

दु ख सुखोमे, शत्रु मित्रमे, हो समान मन मेरा ।
वन मदिरमे लाभ हानि मे हो समता का डेरा ॥
सर्व जगतके थावर जगम चेतन जड उलझेरा ।
तिनमे ममत करू नहिं कबहूँ छोड़ मेरा तेरा ॥३॥

मुनीश । लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठता सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

हे मुनीश । तव ज्ञानमयी चरणोको हियमे ध्याऊँ ।
लीन रहे, वे कीलित होवे, थिर उनको बिठलाऊँ ॥
छाया उनकी रहे सदा मम औगुण नष्ट कराऊँ ।
मोह अँधेरा दूर करनको रत्न दीप मम भाऊ ॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिन ,
प्रमादत सचरता इतस्तत ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठित तदा ॥५॥

एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पचेन्द्री पर्यंता ।
प्राणिन को प्रमादवश होके इत उत मैं विचरन्ता ॥
नाश छिन्न दु खित कीने हो भेले [illegible] गन्ता ।
सो सब दुराचार [illegible] दूर होहु [illegible] भगवन्ता ॥५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्त्तिना
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपन
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृत प्रभो ॥६॥

रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा चलकर मैंने ।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अरु कषाय आधीने ॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि का किया लोप हो मैंने ।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन मैंने ॥६॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरह,
मनोवच.कायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पाप भवदु खकारण
भिषग्विष मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

मन वच काय कषायन के वश जो कुछ पाप किया है ।
है ससार दु ख का कारण ऐसा जान लिया है ॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है ।
चतुर वैद्य जिम मत्र गुणों से विष सहार किया है ॥७॥

अतिक्रम यद्विमतेर्व्यतिक्रम
जिनातिचार सुचरित्रकर्म्मण.
व्यधादनाचारमपि प्रमादत
प्रतिक्रम तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

मतिभृष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतीक्रम करडाला ।
सुआचार कर्मों मे व्यतिक्रम अतीचार भी डाला ॥

हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करणको इन दोपोंके प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ।।८।।

क्षति मन शुद्धिविधेरतिक्रम
व्यतिक्रम शीलवृतेर्विलघनम् ।
प्रभोतिचार विपयेपु वर्तन
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ।।६।।

मन विशुद्धिमे हानि करे जो वह विकार अतिक्रम है ।
शील स्वभाव उलघनकी मति सो जाना व्यतिक्रम हैं ।।
विपयो मे वर्तन होजाना अतीचार नहि कम है ।
स्वच्छंदी वनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इकदम है ।।६।।

यदर्थमात्रापदवाक्यहीन
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी
सरस्वती केवलवोधलब्धिम् ।।१०।।

मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनोको ।
कर प्रमाद वोला हो मैंने दोप सहित वचनोको ।।
क्षम्य ! क्षम्य ! जिनवाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनो को !
कृपा करो हे मात ! दीजिये पूर्ण ज्ञान रतनोको ।।१०।।

वोधि समाधि परिणामशुद्धि,
स्वात्मोपलब्धि शिवसौख्यसिद्धि ।
चिन्तामणि चिन्तितवस्तुदाने
त्वा वद्यमानस्य ममास्तु

वार वार वन्दूं जिन माता ! तू जीवन सुखदाई।
मन चिन्तित वस्तूको देवे चिन्तामणि सम भाई ॥
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधी शुद्धभाव इकताई।
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखोकी सिद्धी दे जिनमाई ॥११॥

य स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै-
यं स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रै,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं।
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे हैं ॥
वेद पुराण शास्त्र पाठो मे जिनका गान करे हैं।
परम देव मम हृदय विराजो तुझ मे भाव भरे हैं ॥१२॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभाव,
समस्तससारविकारबाह्य।
समाधिगम्य परमात्मसज्ञ।
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

सबको देखन जानन वाला, सुख स्वभाव सुखकारी।
सब विकारि भावो से बाहर जिनमे हैं ससारी ॥
ध्यान-द्वार अनुभव मे आवे परमातम शुचिकारी।
परमदेव मम हृदय विराजो भाव तुझीमे भारी ॥१३॥

निषूदते यो भवदुखजाल,
निरीक्षते यो जगदन्तराल।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

सकल दुःख संसारजाल के जिसने दूर किये हैं।
लोकालोक पदार्थ सभी युगपत् देख लिये हैं॥
जो मन भीतर गम्य हैं मुनियोंने जान लिये हैं।
परमदेव मम हृदय-विराजो सब रुज नाश किये हैं॥१४॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

मोक्ष मार्ग व्यक्तमयी जिनका प्रगटावनहारा।
जनम मरण आदि दुःखोंसे सब दोषोंसे न्यारा॥
नहिं शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहिं निस्तारा॥१५॥

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

जिनको संसारी जीवोंने अपना वर माना है।
राग द्वेष मोहादिक जिनके दोष नहीं जाना है॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो करना कल्याना है॥१६॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्ते
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्ध
ध्यातो धुनीते सकल विकार,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१७॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगतमे है व्यापक सुखदाई ।
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बंधसे रहित परम जिनराई ॥
जिसका ध्यान किये क्षण क्षणमे सब विकार मिट जाई॥
परमदेव मम हियमे तिष्ठो यही भावना भाई ॥१७॥

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै-
र्यो ध्वान्तसघैरिव तिग्मरश्मि ।
निरञ्जन नित्यमनेकमेक,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥१८॥

कर्म मैलके दोष सकल नहिं जिसे पर्श पाते है ।
जैसे सूरजकी किरणोंसे तम समूह जाते है ॥
नित्य निरजन एक अनेकी इम मुनिगण ध्याते हैं ।
उसी देवको अपना लखकर हम शरणा आते हैं ॥१८॥

विभासते यत्र मरीचिमालि,
न विद्यमाने भुवनावभासि ।
स्वात्मस्थित बोधमयप्रकाश
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥१९॥

जिसमे तापकरण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी ।
बोध भानु सुख शांति सुकारक शोभ रहा सुविकासी ॥

अपने आतममें तिष्ठे है रहित सकल मल पामी ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली भवत्रानी ॥१९॥

विलोक्यमाने सति यत्र विश्व,
विलोक्यते स्पष्टमिद विविक्तम् ।
शुद्ध शिव शान्तमनाद्यनन्त,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥२०॥

जिसमें देखत ज्ञान दर्शमें सकल जगत प्रतिभासे ।
भिन्न भिन्न षटद्रव्यमयी गुण पर्ययमय समतामे ॥
शुद्ध शात शिवरूप अनादी जिन अनत फटिकासे ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुख भासे ॥२०॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विपादनिद्राभयशोकचिंता ।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च–
स्त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥२१॥

जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिगृह भारी ।
मन विपाद निद्रा भय चिंता रती शोक दु खकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत वन अग्नी भयकारी ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥२१॥

न सस्तरोऽश्मा न तृण न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मित
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विष
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मत ॥२२॥

है व्यवहार विधान क्रिया पूजी तणका सथारा।
निश्चयसे नहि आसन है ये इनमें नहि कुछ सारा॥
(इन्द्रिय विषय रूपसे विरहित आतम प्यारा।
ज्ञानी जीवोंने गुण लखकर आसन उसे विचारा)॥२२॥

न सन्तरो भद्रसमाधिसाधन,

न लोकपूजा न च सघमेलनम्।

यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिश,

विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम्॥२३॥

नहि सथारा कारण होगा निज समाधिका भाई।
नहि लोगोंमें पूजा पाना सघ मेल सुखदाई॥
रात दिवस निज आतममें तू लीन रहा गुणगाई।
छोड़ सकल भव रूप वासना निजमें कर इकताई॥२३॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,

भवामि तेषा न कदाचनाहम्।

इत्थ विनिश्चित्य विमुच्य बाह्य,

स्वस्थ सदा त्व भव भद्र मुक्त्यै॥२४॥

मम आतम बिन सकल पदारथ नहि मेरे होते हैं।
मैं भी उनका नहि होता हूँ नहि वे गुण खोते हैं॥
ऐसा निश्चल जान छोड़के बाहर निज टोते हैं।
उन सम हम निज स्वस्थ रह के मुक्ति धाम लोते हैं॥२४॥

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमान-

स्त्व दर्शनज्ञानमयो विशुद्ध।

एकाग्रचित्तस्तु यत्र तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

निज आतमका आसन रोको है मन परम सुहाई ।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध गुणदाई ॥
चाहे जिस ठिकाने पर हो हो एकाग्र सुहाई ।
जो साधु आपेमें रहते सत्य समाधि उन पाई ॥२५॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

(नं १८॥ ।
मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है ।
निर्मल केवल ज्ञान मयी गुण पूरण अमृतधर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है ।
नही नित्य निज कर्म उदयसे बना यह नाटकघर है ॥२६॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
प्रथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नही है इस शरीरसे भाई ।
तब फिर उसके कैसे होंगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहि कोई उसका नहि सग साथी दाई ।
तनसे चमडा दूर करे नहि रोम छिद्र दिखपाई ॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेद,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृ तिमात्मनीनाम् ॥२८॥

परके संयोगोंमें पड़ तनधारी बहु दुःख पाया ।
इस संसार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया ॥
मन वच कायाने निश्चयकर सबने मोह छुड़ाया ।
अपने आतमकी मुक्तीने मनमें चाव बढ़ाया ॥२८॥

सर्व निराकृत्य विकल्पजालं
संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

इस संसार महावन भीतर पटकनके जो कारण ।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो शर्म निवारण ॥
रे मन ! मुड़ देख आतमको भिन्न परम सुखकारण ।
लीन होइ परमातम माही जो भव ताप निवारण ॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

पूर्व कालमें कर्मबन्ध जैसा आतमने कीना ।
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना ॥
परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सहीना ।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहूँ ना ॥३०॥

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानस
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही बाधे कर्मोंके फलको जिव पाते हैं।
कोई किसीको देता नाही ऋषिगण इम गाते हैं ॥
कर विचार ऐसा दृट मनसे जो आतम ध्याते हैं।
पर देता सुख दुख यह बुद्धी नहि चितमें लाते हैं ॥३१॥

यै परमात्माऽमितगतिवन्द्य
सर्वविविक्तो भृशमनवद्य ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते
मुक्तिनिकेत विभववर ते ॥३२॥

जो परमातम सर्व दोषसे रहित भिन्न सबसे है ।
अमितगती आचारज वंदे मनमे ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मनमे अनुभव सार करे है ।
श्रेष्ठ मोक्षलक्ष्मीको पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥३२॥

इति द्वत्रिंशतिवृत्तै, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥३३॥

इन बत्तीस पदनसे भविजन परमातम ध्याते हैं ।
मनको कर एकाग्र स्वात्ममे अव्यय पद पाते है ॥
सुखसागर वर्द्धनके कारण सत अनुभव लाते है ।
"सीतल" सामायिकको पाकर भवदधितर जाते हैं ॥३३॥

(समाप्तोऽयं सामायिक पाठ)

आलोचनापाठ।

दोहा—वदो पाचो परम गुरु, चौवीसो जिनराज।
करू शुद्ध आलोचना, सिद्धकरनके काज ॥१॥

सखी छन्द (१४ मात्रा)

सुनिये जिन अरज हमारी । हम दोप किये अति भारी ॥ तिनकी अब निर्वृतकाजा । तुम शरन लही जिनराजा । २ । इक वे ते चउ इद्री वा । मनरहित सहित जे जीवा ॥ तिनकी नहिं करुना धारी । निरदइ ह्व घात विचारी । ३ । समरभ समारँभ आरँभ। मनवचतन कीने प्रारँभ ॥ कृत कारित मोदन करिकें। क्रोधादि चतुष्टय धरिकें । ४ । शत आठ जु इन भेदनतैं । अघ कीने पर छेदनतें ॥ तिनकी कहु कोलो कहानी । तुम जानत केवलज्ञानी ।५। विपरीत एकांत विनयके । संशय अज्ञान कुनयके ॥ वश होय घोर अघ कीने । वचतैं नहिं जात कहीने । ६ । कुगुरुन की सेवा कीनी । केवल अदयाकरि भीनी ॥ या विध मिथ्यात वढायो। चहु गतिमधि दोप उपायो ।७। हिंसा पुनि झूठ जु चोरी। परवनितासों दृग जोरी ॥ आरँभ परिगह भीने । पन पाप जु या विधि कीने ।८। सपरस रसना घ्राननको । दृग कान विषय सेवनको ॥ वहु करम किये मन माने । कछु न्याय अन्याय न जाने ।९। फल पच उदवर खाये । मधु माँस मद्य चित चाये ॥ नहि अष्ट मूल गुणधारे । सेये कुविसन दुखकारे । १० । दुइवीस अभख जिन गाये। सो भी निशदिन भु जाये ॥ कछु भेदाभेद न पायो । ज्यो त्यो करि उदर भरायो ।११। अनतानुवधी सो जानो प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ॥ सज्वलन चौंकरी गुनिये । सव भेद जु षोडश सुनिये ।१२। परिहास अरित रति शोक । भय ग्लानि निवेद सजोग ॥ पनवीसा जुभेद भये इम ।

इनके वश पाप किये हम ।१३। निद्रावश शयन करायो । सुपने मधि दोष लगायो ।। फिर जागि विषय बन धायो । नानाविध विषफल खायो ।१४। आहार निहार विहार । इनमें नहिं जतन विचार ।। विन देखे धरा उठाया । विन शोधा भोजन खाया ।१५। तब ही परमाद सतायो । बहुविध विकल्प उपजायो ।। कछु सुधि बुधि नाहिं रही है । मिथ्यामति छाय गई है ।१६। मरजादा तुम ढिग लीनी । ताहूमें दोष जु कीनी ।। भिन्न २ अब कैसे कहिये । तुम ज्ञानविषैं सब पइये ।१७। हा हा मैं दुठ अपराधी । त्रसजीवनराशि विराधी ।। थावरकी जतन न कीनी । उरमें करुणा नहिं लीनी ।१८। पथ्वी बहु खोद कराई । महलादिक जागा चिनाई ।। विन गाल्यो पुन जल ढोल्यो । पखातैं पवन विलोल्यो ।१९। हा हा मैं अदयाचारी । बहु हरितकाय जु विदारी ।। या मधि जिवनिके खंदा । हम खाये धरि आनंदा ।२०। हा हा परमाद बसाई । विन देखे अगनि जलाई ।। तामध्य जीव जो आये । तेहू परलोक सिधाये । २१ । बीधो अन रात पियासो । ईंधन विन सोध जलायो ।। झाड़ू ले जागा बुहारी । चिंटीयादिक जीव विदारी । २२ । जल छानि जिवानी कीनी । सोहू पुनि डारि जु दीनी ।। नहिं जलथानक पहुचाई क्रिरिया विन पाप उपजाई ।२३। जल मल मोरिन गिरवायो । कृमि कुल बहु घात करायो । नदियन बिच चीर धुवाये । कोसनके जीव मराये ।२४। अन्नादिकन शोध कराई । तामैं जु जीव निसराई ।। तिनका नहिं जगन कराया । गलियारे धूप डराया ।२५। पुनि द्रव्य कमावन काज । बहु आरँभ हिंसा

साजे ।। कीये तिसनावश भारी । करुना नहिं रच विचारी ।२६। इत्यादि पाप अनंता । हम कीने श्री भगवंता ।। संतति चिरकाल उपाई । वानी तैं कही न जाई ।२७। ताको जु उदय जब आयो । नानाविध मोहि सतायो ।। फल भुंजत जिय दुख पावै । वचतैं कैसे करि गावै ।२८। तुम जानत केवलज्ञानी । दुख दूर करो शिवथानी ।। हम तो तुम शरन लही है । जिन तारन विरद सही है ।२९। इक गाँवपती जो होवै । सो भी दुखिया दुख खोवै ।। तुम तीन भुवनके स्वामी । दुख मेटो अन्तरजामी ।३०। द्रोपदिको चीर बढायो । सीताप्रति कमल रचायो ।। अंजन से किये अकामी । दुख मेटो अन्तरजामी ।३१। मेरे अवगुन न चितारो । प्रभु अपनो विरद निहारो ।। सब दोष रहित करि स्वामी । दुख मेटहु अन्तरजामी ।३२। इन्द्रादिक पद नहिं चाहूँ । विषयनिमें नहिं लुभाऊँ ।। रागादिक दोष हरीजे । परमातम निजपद दीजे ।३३। दो—दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीजो मोहि । सब जीवनके सुख बढैं, आनन्द मंगल होय ।३४। अनुभव माणिक पारखी, जोहरि आप जिनन्द । येही वर मोहि दीजिये, चरन सरन आनन्द ।३५।

इति आलोचनापाठ समाप्त ।

प्रशस्ति ।

दोहा-अवध लखनऊ नग्रमे, अग्रवाल शुभ वंश ।
मंगलसैन सु शास्त्रवित्, धर्मी निर्मल हंस । १ ।
तिन सुत मक्खनलालजी, तीजा सुत हूँ जास ।
सीतल बत्तिस वय थकी, करत त्याग अभ्यास । २ ।

उन्निस पैतीस विक्रमा, जन्म कार्तिक मास।
उन्निस पच्चासी विषे, रुहतक बस चौमास। ३।
मदिर तीन दिगम्बरी, बालक शाला एक।
कन्याशाला भी लसै धर्मशाल पुनि एक। ४।
औपधिशाला दो लसे, एक सर्व समुदाय।
जोरावरसिहसे चले, द्वितिय रुग्न सुखदाय। ५।
अग्रवाल जैनी बसें, दो शत घर समुदाय।
निज २ मति अनुसार सब, सेवत धर्म स्वभाय। ६।
कपूरचन्द अरु दीपचन्द, तथा जयन्तिप्रसाद।
नानकचन्द सु लालचन्द, श्यामलाल दुखवाद। ७।
रत्नलाल उग्रसेनजी, और जिनेश्वर दास।
आदि वकील प्रवीण है, सिह दिवान उदास। ८।
मास्टर है शिवराम बुध, रामलाल विद्वान।
इत्यादि सार्धमिमे, किया सु निज कल्याण। ९।
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना ग्रन्थ।
सस्कृतसे भापा लिखी, चलै ध्यानका पथ। १०।
नरनारी चित्त दे पढो, समझो अर्थ विचार।
मनन करो आतम लखो, पावो ज्ञान उदार। ११।
श्री जिनेन्द्रके ध्यानसे, होवे आतम ज्ञान।
आतम सुख नितप्रति रहे, होवे सब कल्याण। १२।
मगल श्री अरहत है, मगल सिद्ध महान।
मगल श्री जिनधर्म है, "सीतल" को सुखदान। १३।
ब्र० सीतल। ता० ४-१०-२८।

दृष्टि का विषय।

साधकदशा भी शुद्ध दृष्टि के विषयभूत मूल स्वभाव में नहीं है।"

दृष्टि का विषय तो त्रिकाली शुद्ध निज ज्ञायक भगवान है। ध्रुव द्रव्य (निज चेतन) अपने ही स्वभाव (ध्रुवत्व = अपरिणामी द्रव्य) के आलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निर्मल साधकदशा - मोक्षमार्ग शुद्धोपयोग की परिणति, वीतरागदशा प्रगट हुई, वह भी शुद्ध दृष्टि के विषयभूत, मूल स्वभाव में नहीं है, क्योंकि यह तो सब पर्यायें हैं। द्रव्य अर्थात् द्रव्यस्वभाव के आश्रय से जो दर्शन-ज्ञान और स्वरूपलीनता हुई वह साधक पर्याय भी शुद्ध दृष्टि के विषयभूत मूल स्वभाव में नहीं है। ऐसा वस्तुस्वरूप है।

देव-शास्त्र-गुरु आदि परद्रव्य, शुभाशुभ विभाव या परलक्षी शास्त्र ज्ञान तो नहीं परन्तु स्वलक्ष से प्रगट हुवा समकित, शान्ति और आनन्द की पर्याय भी शुद्ध दृष्टि का विषय नहीं है।